मेरे
प्रिय निबन्ध

महादेवी जी के अत्यंत प्रिय
अपने ही निबंधों का संग्रह

नेशनल
पब्लिशिंग
हाउस
२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

मेरे प्रिय निबन्ध

महादेवी

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

शाखाएं
चौड़ा रास्ता, जयपुर
३४, नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-३

ISBN 81—214—0025—2

मूल्य : ४०.००

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२ द्वारा प्रकाशित / द्वितीय संस्करण : १९८९ / सर्वाधिकार : श्रीमती महादेवी वर्मा / सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, ए-९५,
सेक्टर-५, नोएडा-२०१३०१ में मुद्रित । [387 2(08B-04PB)786/N]

MERE PRIYA NIBANDH (Essays) by Mahadevi Verma
Price : Rs 40 00

यह सत्य है कि कविता और गद्य एक उत्साह से उत्पन्न होते हैं, किंतु उनकी दिशाएं एक नहीं रहती। एक को मनुष्य की आध्यात्मिका वृत्ति को जागृत करना है और दूसरे को उसकी वृद्धि को क्रियाशील बनाना है।

निवन्ध-क्रम

अपनी बात ९
संस्कृति का प्रश्न १५
साहित्यकार : व्यक्ति और समष्टि २०
छायावाद ३२
रहस्यवाद ६३
गीति-काव्य ८४
समाज और व्यक्ति १०४
हमारा देश और राष्ट्रभाषा ११६
भाषा का प्रश्न १२४
सोने की कसा १२७

अपनी बात

निबध को अग्रेजी के ऐसे (Essay) का पर्याय माना जाता है, किंतु इन दोनो मे पर्याप्त अतर है। अग्रेजी का 'ऐसे' फ्रांसीसी शब्द एसाई से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ किसी विषय पर गद्य म सहज, लघु और मुक्त साहित्यिक रचना है। ऐसी रचना मे मुक्त निजीपन विशेष गुण है। इसके विपरीत निबध जो नि + बध + ल्युट प्रत्यय से बना है, अपने नाम म ही बधन का सकेत देता है। जो सीमित विचार को क्रमबद्धता मे बाधता है वह निबध है और जो वैचारिक विस्तार को प्रकृष्ट रूप से बाधता है वह प्रबध कहा जाएगा।

विचारो तथा तर्क की सरणियो की क्रमबद्धता भारत के प्राचीन साहित्य में ही प्रारभ हो गई थी। ब्राह्मण ग्रथ, उपनिषद्, दर्शन आदि मे तर्क का जैसा उपयोग हुआ है, वह सश्लिष्ट रूप से वैचारिक, बौद्धिक तथा भावात्मक समृद्धि देता है और इस समृद्धि मे बिखराव रोकने के लिए क्रमबद्धता स्वाभाविक ही नही, अनिवार्य है।

प्रत्येक निबध मे सग्रथित होने के लिए जो सामजस्य आवश्यक होता है वह लेखक के निजीपन, बौद्धिक क्रिया तथा निरीक्षणमूलक अनुभूति का सम्मिश्रित प्रतिफलन है।

सामान्यत निबध का, वर्णनात्मक, विवेचनात्मक, विचारात्मक, भावात्मक आदि मे जो वर्गीकरण किया गया है उसमे विभाजक रेखाए ऐसी कठिन नहीं हैं कि एक को दूसरे में अनुस्यूत होने से रोक सकें। वर्णनात्मक म भाव का स्पर्श न हो या भावात्मक म विचार का प्रवेश न हो, यह असभव नहीं तो कठिन अवश्य है। सभवत इसका कारण मनुष्य का वह मानसिक गठन है, जिसमे एक प्रवृत्ति के प्रधान हो जाने पर भी अन्य प्रवृत्तिया गौण रहकर उसमे सहयोग करती रहती हैं।

मेरे विचार मे निबध का वर्गीकरण विषय से अधिक शैली पर निर्भर है जो लेखक की निजता से सबध रखती है।

आधुनिक युग में निबंध-लेखन का ज्ञान-विज्ञान की अनेक दिशाओं मे प्रवेश और विस्तार हुआ है, अत उसे नवीन तथ्यो के उद्‌घाटन मे भी प्रतिष्ठा मिल गई है। प्रत्येक विद्वत् सम्मेलन मे ज्ञान के गभीर विषय पर नयी शोध सबंधी पत्रक पढ़े जाते हैं तथा वे वादविवाद के साधन बनते थे। ये निबंध साहित्यिक न होने पर भी अपनी रूप-रेखा मे साहित्य का सहयोग लेते हैं।

इनके अतिरिक्त साहित्यिक निबधो मे एक अधिक सहज, स्वच्छद विधा का भी विकास हुआ है जिसे ललित निबध के नाम से जाना जाता है। आधुनिक युग मे आलोचना का जैसा विविध रूपी विकास हुआ है, उसने भी आलोचनात्मक निबध को नवीन मनोविश्लेषक पृष्ठभूमि दी है।

इस प्रकार आधुनिक युग मे साहित्य की अन्य विधाओ से अधिक निबंध का उपयोग तथा विस्तार हो रहा है। शिक्षक, विद्यार्थी, शोधकर्त्ता, दार्शनिक, वैज्ञानिक, समाजशास्त्री आदि सभी इस विधा के माध्यम से ही अपनी मान्यताए व्यक्त करते हैं। ऐसी स्थिति मे निबध को एक सर्वस्वीकृत स्थिति प्राप्त हो चुकी है।

निबध प्राचीन युगो मे भी साहित्य मे सीमित नही रहा और आज तो उसे साहित्यिक प्रतिष्ठा देने के लिए लेखकों को विशेष प्रयत्न करना पडेगा, अन्यथा वह समाचार-पत्रो के पृष्ठो को भरकर भी उन्ही के समान पुराना होकर खो जाएगा। रिपोर्ताज, दैनंदिनी, समाचार-लेखन आदि भी गभीर निबंधो से अधिक आकर्षक रूप मे प्रस्तुत किए जा रहे हैं क्योकि समाचार-पत्रो की लोकप्रियता उन पर निर्भर है।

साहित्यिक निबंध एक विशिष्ट वर्ग मे आते हैं अत उनका प्रसार भी सीमित रहना स्वाभाविक है।

'गद्य कवीना निकष वदन्ति' कहकर विद्वानो ने गद्य को कविता की कसौटी मान लिया है और कसौटी तो किसी मूल्यवान धातु के खरे-खोटेपन की जाच के लिए होने के कारण धातु से अधिक महत्त्व की होती है।

मेरे विचार में कविता अपनी अभिव्यक्ति के लिए शब्दो के उचित चयन पर निर्भर रहती है जो शिल्प है। शब्दो का काव्यानुकूल चयन तभी सभव है जब कवि किसी भाषा के शब्दकोश, उसमे प्रयुक्त शब्द-शक्तियो, भगिमाओ आदि का ज्ञान रखता हो। कविता किसी भाषा का फूल है, जिसमे उक्त भाषा की रगमयता, रस, सौरभ, पराग आदि मिलकर ही उसे उल्लास का केंद्र बना देते हैं। रसास्वाद के लिए भाषा की अतरग छवि को बहिरग बनाना आवश्यक हो जाता है। इस कार्य के लिए गद्य का समर्थ लेखन कवि का विशेष गुण मान लिया जाये तो उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता।

सत कवियो ने सधुक्कडी भाषा का प्रयोग किया है, किंतु उसे लोकमानस

के निकटलाने के लिए लोकभाषा की सभी भगिमाओ को उन्होंने स्वीकार किया है। लौकिक प्रतीको द्वारा अलौकिक तत्त्व को जनमानस मे पहुचाना अपने आप मे एक चमत्कार है और इसे सभव करने वाले सतो का लोक-मानसिकता तथा लोकभाषा दोनो पर अधिकार होना स्वाभाविक है।

गोस्वामी तुलसीदास तथा प्रज्ञाचक्षु सूर का अवधी और ब्रजभाषा का ज्ञान असीम और अथाह है।

आधुनिक युग के कवियो का गद्यलेखन भी गद्य को कविता का निकष प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है।

अपने गद्य के लिए कुछ कहना मेरे लिए कठिन है, परतु गद्यलेखन की ओर अभिरुचि के लिए मैं अपने बाल्यकाल तथा प्रारभिक विद्यार्थी जीवन के शिक्षको की आभारी हू।

समस्यापूर्ति जैसे विषय के साथ लेख लिखने की बाध्यता न होने पर मेरी प्रवृत्ति उस दिशा म न होती, ऐसा मरा विश्वास है।

कविता ने जैसे मेरी अनुभूति को गहराई दी है, गद्य ने उसी प्रकार मेरे बोध को व्यापक क्षितिज दिया है। गद्य मे अपने सस्मरण, यात्रा-वर्णन आदि को मैं निजीपन से युक्त ललित साहित्य ही मानती हू, क्योकि उन पर भाव का एक झीना बादल छाया रहता है। उनमे मेरी अपनी पहचान भी है और दूसरो की भी।

निबध मेरे अध्ययन-अध्यापन आदि का परिणाम है, जिनमे मैं तर्क तथा क्रमबद्धता का उपयोग करने का अवकाश पा जाती हू। बाल्यकाल मे पढाने वाले गुरु एक ही विषय पर दस दस बार तब तक लिखवाते रहते थे, जब तक उनको पूर्ण सतोष न हो जाता था। मैं भी आज जब अपने विद्यार्थियो को ऐसा दड देती हू तब अनायास अपने गुरु का स्मरण हो आता है।

मेरी सहानुभूति ने मुझे समाज के दलित-पीडित व्यक्तियो के तादात्म्य की शक्ति देकर ऐसी जीवनदृष्टि दे दी है, जिससे मेरे लेखन को आलोक मिलता है।

आज के लेखन मे जो भोगे हुए यथार्थ का प्रश्न उठाया जाता है वह तर्क की कसौटी पर ठहरने में असमर्थ ही सिद्ध होगा।

अनेक वर्ष पहले मैंने जो यथार्थ और आदर्श की विवेचना की थी वह आज भी सत्य है। एक ही परिस्थिति सब मे एक-सी प्रतिक्रिया नही उत्पन्न करती, अत व्यक्ति का भोगा हुआ यथार्थ सीमित तथा वैयक्तिक ही रहेगा। परतु मानव मन की क्या कुछ भिन्न है। शिला कण-कण म टूटकर भी जल मे नही मिल पाती। इसके विपरीत जल की बूद भी समुद्र मे मिल कर समुद्र हो जाती है। बाह्य परिस्थिति की प्रतिक्रिया प्रत्येक मन पर भिन्न होगी, किंतु मन की प्रतिक्रिया दूसरे मन पर वही होगी, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है।

सकुर्सत का प्रश्न

दीर्घनिकाय मे मनुष्य के क्रमश उन्नति और अवनति की ओर जाने के सबध मे कहा हुआ यह वाक्य आज की स्थिति से विचित्र साम्य रखता है—

'उन लोगो मे एक दूसरे के प्रति तीव्र क्रोध, तीव्र प्रतिहिंसा, तीव्र दुर्भावना और तीव्र हिंसा का भाव उत्पन्न होगा। माता मे पुत्र के प्रति, पुत्र मे माता के प्रति, भाई म बहिन के प्रति, बहिन मे भाई के प्रति, भाई मे भाई के प्रति तीव्र क्रोध, तीव्र प्रतिहिंसा, तीव्र दुर्भावना और तीव्र हिंसा का भाव उत्पन्न होगा, जैसे मृग को देखकर व्याध मे तीव्र क्रोध, तीव्र प्रतिहिंसा, तीव्र दुर्भावना और तीव्र हिंसा का भाव उत्पन्न होता है। वे एक-दूसरे को मृग समझने लगेंगे। उनके हाथो मे पैने शस्त्र होग। वे उन तीक्ष्ण शस्त्रो से एक-दूसरे को नष्ट करेंगे। तब उन सत्वो के बारे मे कुछ सोचेंगे 'न मुझे औरो से काम न औरो को मुझसे काम, अत चलकर घने तृण-वन-वृक्षो मे या नदी के दुर्गम तट पर या ऊचे पर्वत पर वन के फल-फूल खाकर रहा जावे।' फिर वे घने तृण वृक्षो मे या नदी के दुर्गम तट पर या ऊचे पर्वत पर वन के फल फूल खाकर रहेंगे। एक सप्ताह वहा रहने के पश्चात् वे घने · से निकल कर एक-दूसरे का आलिगन कर एक-दूसरे के प्रति शुभकामनाए प्रकट करेंगे। (चकवत्ति सिंहनाद सुत्त ३।३)

उपर्युक्त कथन के प्रथम अश की सत्यता तो हमारे जीवन में साधारण हो गई है, परतु दूसरे अश की सत्यता का अनुभव करने के लिए सभवत हमें इससे कठिन अग्नि-परीक्षा पार करनी होगी।

आज जब शस्त्रो की झनझनाहट मे जीवन का सगीत विलीन हो चुका है, विद्वेष की काली छाया में विकास का पथ खोता जा रहा है, तब सस्कृति की चर्चा व्यग जैसी लगे तो आश्चर्य नही। परतु जीवन के साधारण नियम मे विश्वास रखने वाला यह जानता है कि सघन से सघन बादल भी आकाश बन जाने की क्षमता नही रखता, वज्रपात का कठोर से कठोर शब्द भी स्थायी हो

जाने की क्षमता नही रखता। जब मनुष्य का आत्मघाती आवेश शात हो जावेगा, तब जीवन के विकास के लिए सृजनशील तत्त्वों की खोज मे, सांस्कृतिक चेतना और उसकी अभिव्यक्ति के विविध रूप महत्त्वपूर्ण सिद्ध होंगे।

संस्कृति की विविध परिभाषाए संभव हो सकी हैं, क्योंकि यह विकास का एक रूप नही, विभिन्न रूपो की ऐसी समन्वयात्मक समष्टि है, जिसमे एक रूप स्वत पूर्ण होकर भी अपनी सार्थकता के लिए दूसरे का सापेक्ष है।

एक व्यक्ति को पूर्णतया जानने के लिए जैसे उसके रूप, रंग, आकार, बोलचाल, विचार, आचरण आदि मे परिचित हो जाना आवश्यक हो जाता है, वैसे ही किसी जाति की सस्कृति को मूलत समझने के लिए उसके विकास की सभी दिशाओ का ज्ञान अनिवार्य है। किसी मनुष्य-समूह के साहित्य, कला, दर्शन आदि के सचित ज्ञान और भाव का ऐश्वर्य ही उसकी सस्कृति का परिचायक नही, उस समूह के प्रत्येक व्यक्ति का साधारण शिष्टाचार भी उसका परिचय देने मे समर्थ है।

यह स्वाभाविक भी है क्योंकि सस्कृति जीवन के बाह्य और आतरिक सस्कारो का क्रम ही तो है और इस दृष्टि से उसे जीवन को सब ओर से स्पर्श करना ही होगा। इसके अतिरिक्त वह निर्माण ही नही, निर्मित तत्त्वों की खोज भी है। भौतिक तत्त्व में मनुष्य प्राणितत्त्व को खोजता है, प्राणितत्त्व मे मनस्तत्त्व को खोजता है और मनस्तत्त्व मे तर्क तथा नीति को खोज निकालता है, जो उसके जीवन को समष्टि मे सार्थकता और व्यापकता देते हैं। इस प्रकार विकास-पथ मे मनुष्य का प्रत्येक पग अपने आगे सृजन की निरतरता और पीछे अथक अन्वेषण छिपाये हुए है।

साधारणत. एक देश की सस्कृति अपनी बाह्य रूपरेखा मे दूसरे देश की सस्कृति से भिन्न जान पड़ती है। यह भिन्नता उनके देश-काल की विशेषता, बाह्य जीवन, उनकी विशेष आवश्यकताए तथा उनकी पूर्ति के लिए प्राप्त विशेष साधन आदि पर निर्भर है, आतरिक प्रेरणाओ पर नही। बाहर की विभिन्नताओ को पार कर यदि हम मनुष्य की सस्कार-चेतनाओ की परीक्षा करें, तो दूर-दूर बसे मानव-समूहो मे आश्चर्यजनक साम्य मिलेगा। जीवन के विकास सबधी प्रश्नों के सुलझाने की विधि मे अतर है, परंतु उन प्रश्नों को जन्म देने वाली अत:चेतना मे अतर नही।

यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जब अनेक प्राचीन सस्कृतिया लुप्त हो चुकी हैं और अनेक नाश के निकट जा रही हैं तब सस्कृति को विकास का क्रम क्यो माना जावे!

उत्तर सहज है—निरतर प्रवाह का नाम नदी है। जब शिलाओ से घेरकर उसका बहना रोक दिया गया, तब हम उसे चाहे पोखर कहें चाहे झील,

किंतु नदी के नाम पर उसका कोई अधिकार नही रहा ।

संस्कृति के संबध में यह और भी अधिक सत्य है, क्योकि वह ऐसी नदी है, जिसकी गति अनत है। वह विशेष देश, काल, जलवायु मे विकसित मानव-समूह की व्यक्त और अव्यक्त प्रवृत्तियो का परिष्कार करती है और उस परिष्कार से उत्पन्न विशेषताओ को सुरक्षित रखती है।

इस परिष्कार का क्रम अबाध और निरतर है, क्योकि मनुष्य की प्रवृत्तिया चिरतन है, पर मनुष्य अजर-अमर नही। एक पीढी जब अतीत के कोहरे म छिप जाती है तब दूसरी उसका स्थान ग्रहण करने के लिए आलोक-पथ मे आती है। यह नवीन पीढी मानव-सामान्य अतश्चेतना की अधिकारी भी होती है और अपने पूर्ववर्तियो की विशेषताओ की उत्तराधिकारी भी, परतु इन सबका उपयोग उसे बदली हुई परिस्थितियो मे करना पडता है। अनायास प्राप्त वैभव का ज्ञान यदि उसे गर्व से विक्षिप्त बना देता है तो उसका गतव्य ही खो जाता है, और यदि एक निश्चित शिथिलता उत्पन्न कर देता है तो उसकी यात्रा ही समाप्त हो जाती है। महान और विकसित सस्कृतिया इसलिए नही नष्ट हो गई कि उनम स्वभावत क्षय के कीटाणु छिपे हुए थे, वरन् अशरीरी होते-होते इसलिए विलीन हो गईं कि उनकी प्राण-प्रतिष्ठा के लिए जीवन कोई आधार ही नही दे सका। प्रकृति के अणु-अणु के सबध मे मितव्ययी मनुष्य ने अन्य मनुष्यो के असीम परिश्रम से अर्जित ज्ञान का कैसा अपव्यय किया है, यह कहने की आवश्यकता नही।

भारतीय संस्कृति का प्रश्न अन्य संस्कृतियो से कुछ भिन्न है, वह अतीत की वैभव-कथा ही नही, वर्तमान की करुण गाथा भी है। उसकी विविधता प्रत्येक अध्ययनशील व्यक्ति को कुछ उलझन मे डाल देती है। सस्कृति विकास के विविध रूपो की समन्वयात्मक समष्टि है और भारतीय सस्कृति विविध सस्कृतियो की समन्वयात्मक समष्टि है। इस प्रकार इसके मूल तत्त्व को समझने के लिए हम अत्यधिक उदार, निष्पक्ष और व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता रहती है।

परिवर्तनशील परिस्थितियो के बीच मे जीवन को विकास की ओर ले जाने वाली किसी भी सस्कृति मे आदि से अत तक एक विचारधारा का प्राधान्य स्वाभाविक नही। फिर भारतीय सस्कृति तो शताब्दियो को छोड सहस्राब्दियो तक व्याप्त तथा एक कोने म सीमित न रहकर बहुत विस्तृत भू भाग तक फैली हुई है। उसमे एक सीमा से दूसरी सीमा तक, आदि से अत तक एक ही धारा की प्रधानता या जीवन का एक ही रूप मिलता रहे, ऐसी आशा करना जीवन को जड मान लेना है। भारतीय सस्कृति निश्चित पथ से काट छाटकर निकाली हुई नहर नही, वह तो अनेक स्रोतो को साथ ले अपना तट बनाती और पथ निश्चित करती हुई बहने वाली स्रोतस्विनी है। उसे अधकार-भरे गर्तों मे

उतरना पड़ा है, ढालो पर विछलना पड़ा है, पर्वत जैसी बाधाओं की परिक्रमा कर मार्ग बनाना पड़ा है; पर इस लंबे क्रम में उसने अपनी समन्वयात्मक शक्ति के कारण अपनी मूल धारा नहीं सूखने दी। उसका पथ विषम और टेढ़ा-मेढ़ा रहा है, इसी से एक घुमाव पर खड़े होकर हम शेष प्रवाह को अपनी दृष्टि से ओझल कर सकते हैं; परंतु हमारे अनदेखा कर देने से ही वह अविच्छिन्न प्रवाह खंड-खंड में नहीं बंट जाता।

जीवन की मूल चेतना से उत्पन्न ज्ञान और कर्म की दो प्रमुख धाराएं भिन्न-भिन्न दिशाओं में विकास पाते रहने पर भी ऐसी समीप हैं कि एक के साध्य बन जाने पर दूसरी साधन बनकर उसके निकट ही रहती है। कभी इनमें से एक की प्रधानता और कभी दूसरी की और कभी दोनों का समन्वय हमारे जीवन को विविधता देता रहता है। अनेक सिद्धांत हमारे जीवन के समान ही पुराने हैं। उदाहरण के लिए हम वर्तमान युग की अहिंसा को ले सकते हैं, जिससे पिछले अनेक वर्षों से हमारे राष्ट्रीय जागरण को विशेष नैतिक बल मिलता आ रहा है। एक बड़े संघर्ष और निराशा के युग के उपरांत वैष्णव धर्म ने भी इसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। उसके पहले महाभारत काल का अनुसरण करने वाले युग में बुद्ध ने भी। इस सिद्धांत का मूल हमें उपनिषद् ही नहीं, वेद के 'मा हिंस्यात् सर्व भूतानि' में भी मिलता है। यज्ञ के लिए हिंसा के अनुमोदकों के साथ-साथ हमें अहिंसा के समर्थकों का स्वर भी सुनाई पड़ता है। ब्राह्मण काल में इन दोनों विचारधाराओं की रेखाएं कुछ-कुछ स्पष्ट होने लगती हैं और यज्ञ धर्म से आत्म-विद्या को उच्च स्थान देने वाले उपनिषद् काल में वे निश्चित रूप पा लेती हैं। अन्य विचारधाराओं के संबंध में भी ऐतिहासिक अनुसंधान कुछ कम ज्ञानवर्द्धक न होगा।

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म के साथ भारतीय संस्कृति में एक ऐसा पट-परिवर्तन होता है, जिसने हमारे जीवन की सब दिशाओं पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा और दूसरे देशों की संस्कृति को भी विकास की नयी दिशा दी। उसमें और वैदिक संस्कृति में विशेष अंतर है। वैदिक संस्कृति हमारी संस्कृति का उपक्रम न होकर किसी विशाल संस्कृति का अंतिम चरण है और बौद्ध संस्कृति विषम परिस्थितियों के भार से दबे जीवन का संपूर्ण प्राण-प्रवेग है, जिसने सभी बाधाएं तोड़कर बाहर आने का मार्ग पा लिया। एक में शक्ति का गर्व है, सृजन का ओज है; पर अपनी भूलों के ज्ञान से उत्पन्न नम्रता नहीं है, दूसरों की दुर्बलता के प्रति संवेदना नहीं है। दूसरे में मनुष्य की दुर्बलता के परिचय से उत्पन्न सहानुभूति है, जीवन के दुःखबोध-जनित करुणा है; परंतु शक्ति का प्रदर्शन नहीं है, निर्माण का अहंकार नहीं है।

जो तरक भारतीय जीवन का सत्य बन चुका है, ऋग्वेद का ऋषि उसका

नाम-पता नही जानता। जिस नारी की कल्पना मात्र से भारतीय साधक कपित होते रहे हैं, ऋग्वेद के पुरुष को उससे कोई भय नही है। जिस दु खवाद ने भारतीय जीवन को इतना घेर रखा है, ऋग्वेद का मनीषी उसके सबध मे कुछ कहता-सुनता नही। इसके विपरीत बौद्ध सस्कृति का मनुष्य, रामायण काल की मतर्क परिणति और महाभारत के सघर्ष का उपसहार पार कर आया है, दु ख, असफलता, पराजय आदि से विशेष परिचित हो चुका है और जीवन के अनेक कटु अनुभवो से बुद्धिमान बन चुका है।

इसी से वैदिक सस्कृति अपनी यथार्थता मे भी आदर्श के निकट है और बौद्ध सस्कृति अपनी बौद्धिकता से भी अधिक यथार्थोन्मुखी है। एक प्रवृत्ति प्रधान और दूसरी अपरिग्रही है, परतु दोनो विकास की ओर गतिशील हैं। आज की परिस्थितियो मे अपने जीवन को स्वस्थ गति देने के लिए सास्कृतिक विकास के मूल तत्त्वो को समझना ही पर्याप्त न होगा, उनका समन्वयात्मक शक्ति को ग्रहण करना भी आवश्यक है।

सस्कृति के सबध म हमारी ऐसी धारणा बन गई है कि वह निरतर निर्माण क्रम नही, पूर्ण निर्मित वस्तु है, इसी से हम उसे अपने जीवन के लिए कठोर साथी बना लेते हैं। इस भ्राति ने हम जीवन के मूल तत्त्वो को नवीन परिस्थितियो के साथ किसी सामजस्यपूर्ण सबध मे रखने की प्रेरणा ही नही दी। हम तो अतीत के ऐसे कृपण उत्तराधिकारी हैं, जो दाय भाग मे से कुछ भी अपने ऊपर व्यय नही कर सकता और सतर्क पहरेदार बना रहने मे ही कर्तव्य की पूर्ति मानता है।

जीवन जैसे आदि से अत तक निरतर सृजन है, वैसे ही सस्कृति भी निरतर सस्कार-क्रम है। विचार, ज्ञान अनुभव, कर्म आदि क्षेत्रो मे जब तक हमारा सृजन-क्रम चलता रहता है, तब तक हम जीवित है। 'जीवन पूर्ण हो गया' का अर्थ उसका समाप्त हो जाना है। सस्कृति के सबध मे भी यही बात सत्य है। परतु विकास की किसी स्थिति मे भी जैसे शरीर और अतर्जगत के मूलतत्त्व नहीं बदलते, उसी प्रकार सस्कृति के मूल तत्त्वो का बदलना भी सभव नही।

आज की सर्वग्रासी परिस्थिति म यदि हम अपने जीवन का क्रम अटूट रखना चाहें, तो अपनी सास्कृतिक चेतना को मूलत समझना और उसकी समन्वयात्मक प्रवृत्ति को सुरक्षित रखना उचित होगा। सैकडो फीट नीचे भू-गर्भ मे, गहरी गुफाओ म या ऊची-ऊची शिलाओ मे मिले हुए अतीत वैभव तक ही हमारी सस्कृति सीमित नही, वह प्रत्येक भारतीय के हृदय मे भी स्थापित है। हमारी खोज किसी मृत जाति के जीवन-चिह्नो की खोज नही, जीवित उत्तराधिकारी के लिए उसके पैतृक धन की खोज है और यह उत्तराधिकारी प्रत्येक झोपडी के कोने मे उसे पाने को उत्कठित बैठा है △

साहित्यकार :
व्यक्ति और समष्टि

सृजन की दृष्टि से व्यक्तिगत होने पर भी साहित्य अपने रचनाकार के अनुरजन मात्र तक सीमित नहीं रहता।

जिस प्रकार भाषा मे वक्ता और श्रोता दो की स्थिति स्वयसिद्ध है, उसी प्रकार साहित्य मे दूसरा पक्ष अतर्निहित है।

प्रत्येक युग और प्रत्येक देश मे साहित्य की उत्कृष्टता की कसौटी उसकी व्यापकता ही मानी गई है और यह व्यापकता स्वयं व्यक्तिगत रुचिवैचित्र्य का निषेध है। मनुष्य एक विशेष सामाजिक परिवेश मे उत्पन्न होता है। कुछ संस्कार उसे अपने परिवेश से उत्तराधिकार मे प्राप्त होते हैं और कुछ उसके मधुर-कटु अनुभवो से बनते हैं। । उसके कुछ व्यक्तिगत स्वार्थ होते हैं और कुछ समष्टिगत दायित्व, जिन्हें वह सामाजिक प्राणी होने के नाते स्वीकार करता है। व्यक्तिगत स्वार्थ और समष्टिगत स्वार्थों मे सघर्ष की सभावना जिस सीमा तक कम होती जाती है, उसी सीमा तक हम किसी समाज को और उसके सदस्यो को सस्कृत कहते हैं।

मनुष्य की महानता उसके दायित्व की विशालता का पर्याय है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति का स्वार्थ समाज विशेष के स्वार्थ मे ही लय नही हो जाता, वरन् मानव-समष्टि के स्वार्थ या हित से एकाकार हो जाता है।

मनुष्य केवल प्राण-सवेदनयुक्त जीव ही नही है, वह असंख्य मानसिक संभावनाओ तथा सवेदन के विविध स्तरो का सघात है। बुद्धि की सचेतन प्रक्रिया और अत करण की प्रवृत्तियों मे सामजस्य लाने का सचेतन प्रयास तथा उसमें आनद की अनुभूति उसकी अपनी विशेषता है, जो उसे शेष जीवनसृष्टि से भिन्न कर देती है।

केवल शारीरिक यात्रा के साधन तथा आत्मरक्षण की सहज चेतना उसमे अन्य प्राण-सवेदनयुक्त जीवो के समान होना स्वाभाविक है। परतु अपनी [illegible] स्थिति से असतोष, अज्ञात स्थिति विषयक जिज्ञासा, अनुभूत तथ्यो के

आधार पर सर्वथा अनुभूत सत्यो तक पहुचने का प्रयास, प्रयास मे आनदमयी स्थिति की परिकल्पना, अप्राप्त लक्ष्य मे आस्था आदि विशेषताओ के कारण ही वह विशिष्ट है।

अपनी इस विकासनिष्ठ क्रिया को अबाध रखने के लिए वह अपने बौद्धिक और मानसिक स्तरो का सगठन तथा सशोधन नये-नये प्रकारो से करता आ रहा है। अपने सहज प्राप्त परिवेश से ही सचालित न होकर वह उस पर अपने अतर्जगत को भी प्रतिफलित करता चलता है। इस प्रकार उसकी गति से भौतिक विश्व की एक मानसी सृष्टि भी होती आ रही है।

दर्शन, धर्म, विज्ञान, कला, साहित्य सभी ने जीवन के इस दोहरे विकास मे योग दिया है। पर मनुष्य की व्यक्ति और समष्टिनिष्ठ तथा बुद्धि और भाव-निष्ठ अभिव्यक्तिया साहित्य की अधिक ऋणी हैं।

जीवन को समग्रता से स्पर्श करने के कारण तथा बुद्धि और अत करण की विभिन्न वृत्तियो को सश्लिष्ट करने की क्षमता के कारण साहित्य सहज ही मनुष्य के रहस्य का उद्गीथ बन गया है।

यह तो सर्वस्वीकृत है कि साहित्य-सृजन का कार्य ऐसे व्यक्ति कर पाते हैं, जिन्हे उनके परिवेश तथा बुद्धि-अत करण की वृत्तियो ने उपयुक्त साधनो से सपन्न कर दिया है। वे न अमानव है न अतिमानव, प्रत्युत, विकास के ऐसे बिंदु पर सामान्य मानव हैं कि जीवन और परिवेश मे अव्यक्त हलचल भी उनकी अनुभूति मे व्यक्त हो जाती है। साहित्य को चाहे किसी ने जीवन का अनुकरण माना हो चाहे कल्पना-सृष्टि, चाहे जीवन-नीति का सचालक कहा हो चाहे सौंदर्य-बोध मात्र, परतु उसके स्रष्टा की विशिष्ट प्रतिभा को सभी ने स्वीकार किया। केवल अभ्यास से उत्कृष्ट साहित्य-सृजन सभव है, यह आज का वैज्ञानिक युग भी स्वीकार नही करता, अन्य अतीत युगो की चर्चा ही व्यर्थ है।

ऐसी स्थिति मे साहित्य को व्यक्तिगत रुचि मात्र मान लेना उसके युगातर-व्यापी प्रभाव को अस्वीकार करना है।

साहित्य विशेष व्यक्तित्व का परिणाम है, इसी अर्थ मे उसे व्यक्तिगत कहा जा सकता है, परतु इस अर्थ मे मानसिक ही नही भौतिक विकास भी वस्तुनिष्ठ रहेगा।

विकास के रहस्यमय क्रम मे एक वस्तु विकसित होकर विकसित करती है और इसी प्रकार विकास की परपरा अबाध चलती हुई विकास का मानदड निर्मित करती है।

अपने सृजन से साहित्यकार स्वय भी बनता है, क्योकि उसमे नये सवेदन जन्म लेते हैं, नया सौंदर्यबोध उदय होता है और नये जीवन-दर्शन की उप-

लब्धि होती है। सारांश यह कि वह जीवन की दृष्टि से समृद्ध होता जाता है। इसी से साहित्य-सृष्टि का लक्ष्य 'स्वांत सुखाय' का विरोधी नहीं हो सकता। पर यह क्रिया अपने कर्त्ता को बनाने के साथ-साथ उसके परिवेश को भी बनाती चलती है, क्योंकि समष्टि में इन्हीं नवीन संवेदनों, सौंदर्य-बोधों और विश्वासों का स्फुरण होता रहता है।

फूल का विकास अपनी ही रूप-रंग-रसमयता नहीं है, क्योंकि वह अपनी मिट्टी और परिवेश का संयोजन, संवर्द्धन भी करता है। पौधा मिट्टी, धूप, पानी आदि नहीं बनाता, परंतु इनकी सम्मिलित शक्तियों का रसायन ग्रहण कर स्वयं बनाता और उसे व्यक्त करके अपने परिवेश को नवीन रूप-रंग-रसमय बनाता है।

मूर्तिकार न पाषाण बनाता है न छेनी का लोहा। वह केवल प्राकृतिक उत्पादनों और उनकी शक्तियों को संयोजित कर अपनी मानसी सृष्टि को साकार और प्रत्यक्ष कर स्वयं संतोष पाता तथा समष्टिगत परिवेश का संवर्द्धन करता है।

संगीतकार भी स्वरों का और तारों की धातु का सृजन नहीं करता। चित्रकार भी प्रकृति में बिखरी रंग-रेखाओं का स्रष्टा नहीं है। नृत्यकार भी गति का सृजन नहीं करता। शिल्पी पाषाण में अव्यक्त आकारों को व्यक्त आकार देकर, चित्रकार प्रत्यक्ष रंग-रेखाओं के संयोजन में किसी अंतर्निहित सामंजस्य को अवतार देकर और नृत्यकार विश्व में व्याप्त गति को जीवन की विविध चेष्टाओं में छंदायित कर जो सृजन करता है, वह व्यक्ति-सीमित नहीं हो सकता, क्योंकि न माध्यम व्यक्तिनिष्ठ है और न बौद्धिक प्रक्रियाएं और मानसिक वृत्तियां केवल उसकी हैं। इसी से मनुष्य की अव्यक्त संभावनाएं तथा संवेदन किसी न किसी बिंदु पर सबके हो जाते हैं और सबके हो जाने में ही उनकी कृतार्थता है।

व्यक्ति से जिस सत्तागत अभिव्यक्ति अथवा अस्तित्वगत विशेषता का बोध होता है वह भौतिक जगत से अधिक संबद्ध है, परंतु ज्यों-ज्यों हम उसके भीतर प्रवेश करते हैं त्यों-त्यों ये कठिन रेखाएं गल-गलकर तरल होने लगती हैं। दो पत्ते भी समान नहीं हैं, पर दो मनुष्य आकृति में भिन्न होकर भी संवेदन के एक स्तर पर समान हैं।

इस मूलगत एकता के कारण ही साहित्यिक उपलब्धियां कालांतरव्यापिनी हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में साहित्य के स्रष्टा मात्र ही उसके उपभोक्ता कैसे माने जा सकते हैं! जीवन के परिष्कार और परिवर्तन के हर अध्याय में साहित्य के चिह्न हैं, अतः उसे व्यापक सामाजिक कर्म न कहना अन्याय होगा। पर जब हम उसे विशेष सामाजिक कर्म मान लेते हैं, तब यह समस्या मानसिक क्षेत्र से उतरकर सामाजिक धरती पर प्रतिष्ठित हो जाती है और उसका समाधान नये रूप में उपस्थित होता है।

यदि विशेष सामाजिक कर्म व्यक्ति का समष्टि को दान है तो वह दान देने वाले और पाने वाले के मानसिक तथा भौतिक परिवेश के अनुसार ही कम या अधिक महत्त्व पाता है। परतु यह स्वीकार कर लेने पर कि साहित्यसृजन व्यक्तिगत रुचि मात्र न होकर महत्त्वपूर्ण सामाजिक कर्म है, साहित्यकार की समस्या सामाजिक प्राणी की ओर विशेष कार्यक्षम सामाजिक सदस्य की समस्या हो जाती है।

समाज केवल भीड का पर्याय नही होता। 'समाना अजति' समान सचरण-शील व्यक्ति-समूह ही समाज है। इन व्यक्तियो मे, व्यक्तिगत स्वार्थ की समष्टिगत रक्षा के लिए अपने विषम आचरण मे साम्य उत्पन्न करने वाले समझौते की स्थिति अनिवार्य रहेगी। व्यक्ति और व्यक्ति के स्वार्थों मे सघर्ष की सभावना ज्यो ज्यो घटती जाती है, त्यो-त्यो व्यक्ति का परिवेश समष्टि के परिवेश तक फैलता जाता है और पूर्ण विकसित समाज मे व्यक्ति के सकीर्ण परिवेश की कल्पना ही कठिन हो जाती है। मनुष्य अपनी क्रियाशीलता को समाज को निवेदित कर देता है और अपने इस समर्पण से वह स्वय एक विशाल और निरतर सृजन का अशभूत हो जाता है। पर स्वस्थ समाज मे व्यक्ति की क्रियाशक्ति की स्वाभाविक परिणति जीवन के उत्तरोत्तर विकास की सुविधा ही रहती है। जब ऐसा तारतम्य नही रहता, तब ऐसी विच्छिन्न क्रिया कभी विद्रोह का पर्याय मानी जाती है और कभी अपराध की सज्ञा पाती है।

स्वय को शासित रखने के लिए समाज एक लिखित विधि निषेधमय विधान रखता अवश्य है, पर वह सचालित ऐसे अलिखित विधान से होता है, जो पर-परा, रुचि, आस्था, सस्कार, मनोराग आदि का सश्लिष्ट योगदान है। पूर्ण से पूर्ण समाज भी व्यक्ति के जीवन को सब ओर से घेर नही सकता, क्योकि मानव स्वभाव का बहुत-सा अश समाज की विधि-निषेधमयी सीमारेखा के बाहर मुक्त और उसकी दृष्टि से ओझल रहता है।

मनुष्य के जीवन का जितना अश नीति, शिक्षा, आचार आदि सामाजिक सहिताओ के सम्पर्क मे आता है, उतना ही समाज द्वारा शासित माना जाएगा। समाज यदि मनुष्यो के समूह का नाम नही है तो मनुष्य भी केवल क्रियाओ का सघात नही है। दोनो के पीछे सामूहिक तथा व्यक्तिगत इच्छा, हर्ष, विषाद आदि की प्रेरणा रहती है। आचरण को सेना के समान क्वायद सिखा देना ही जीवन नही है, वरन् कर्म को प्रेरित करने वाले मनोविकारो के उद्गम खोजकर उनमे विकास की अनुकूलता पा लेना जीवन का लक्ष्य है।

साहित्य का उद्देश्य समाज के अनुशासन से बाहर स्वच्छद मानव-स्वभाव मे, उसकी मुक्ति को अक्षुण्ण रखते हुए समाज के लिए अनुकूलता उत्पन्न करना है।

साहित्य एक ओर विधि-निषेध से बाहर उडने वाले मानव-मन को समष्टि

से बांधकर उसकी निरुद्देश्य उड़ान को थाम लेता है और दूसरी ओर समाज की दृष्टि से ओझल मानव-स्वभाव की विविधताओं को उसके सामने प्रस्तुत कर सामाजिक मूल्यांकन को समृद्ध करता है।

इस प्रकार निर्बंध कुछ बंध जाता है और बद्ध के बंधन कुछ शिथिल हो जाते हैं।

मनुष्य को अपने लिए विशेष वातावरण ढूंढने नहीं जाना पड़ता। वह एक विशेष परिवेश में जन्म लेकर अपने विकास के साथ-साथ सामाजिक संस्थाओं से परिचित और अनुशासित होता चलता है। जैसे उसे सांस के लिए वायु अनायास मिल जाती है, उसी प्रकार समाज का दान भी अयाचित और अनजाने ही उसे प्राप्त हो जाता है।

जब तक वह अपने आपको जानने की स्थिति में पहुंचता है, तब तक समाज उसे एक सांचे में ढाल चुकता है। परंतु यदि मनुष्य अपने इसी निर्माण से संतुष्ट हो सके तो उसमें और जड़ में अंतर ही क्या रहेगा!

वह दर्जी के सिले कपड़ों के समान समाज के विधि-निषेध को धारण कर लेता है और तब उनके तंग या ढीले होने पर, सुंदर या कुरूप होने पर संतुष्ट-असंतुष्ट होता है।

यह संतोष-असंतोष समाज के शासन की परिधि में नहीं आता, पर साहित्य इसी का मूल्यांकन करता है। दूसरे शब्दों में समाज के दान की जहां इति है, साहित्य का अर्थ उसी बिंदु से चलता है। अतः साहित्यकार का कर्म अन्य कर्मों को तोलने वाले तुला और बाटों में नहीं तुल सकता।

अन्य क्षेत्रों में समाज अपने सदस्यों की क्रियाशक्ति को अपने अधीन कर उनकी प्रतिभा और कुशलता के अनुसार उनका कार्य निश्चित कर देता है तथा उसके प्रतिदान में उन्हें जीवन-यात्रा की सुविधाएं प्रदान करता है।

दोनों पक्षों का आदान-प्रदान इतने स्थूल धरातल पर स्थित है कि उसकी उपयोगिता के विषय में किसी संदेह का अवकाश कम रहता है।

भारी पैना तलवार गढ़ने वाले लौहकार के कार्य का महत्त्व भी समाज जानता है और हल्की अगूठी में रत्नों की बारीक जड़ाई करने वाले स्वर्णकार की कुशलता का मूल्य भी उससे छिपा नहीं है।

कष्ट-लभ्य वस्तुओं का क्रय-विक्रय करने वाले व्यापारी की प्रत्यक्ष योजना का भी उसे ज्ञान है और मंदिर में मौन जप करने वाले पुजारी की अप्रत्यक्ष रचना में भी उसका विश्वास है।

न्यायासन पर दंड-पुरस्कार का वितरण करने वाले न्यायाचार्य के कार्य के विषय में उसे संदेह नहीं है और समाज की नयी पीढ़ी को परंपरानुसार शांत, दांत बनाने में लगे हुए शिक्षा-शास्त्री के कार्य का भी उसके पास लेखा-जोखा है।

समाज ने इन विविध कार्यों को, अधिकारी व्यक्तियो को, स्वय सौपा है। और उन कर्तव्यो के विषय में एक परपरागत शास्त्र भी पूर्व निश्चित है। वे कैसे करते है, यह दूसरा प्रश्न है, परतु 'वे क्या करें' और क्या न करें के विषय मे द्विविधा नही है।

कठिन दड के पात्र को दड कम मिले या न मिले, मतभेद का विषय हो सकता है, परतु दड-मुक्ति-विधान समाज-स्वीकृत है और न्याय का कार्य समाज द्वारा किसी को सौंपा गया है।

प्रत्येक सामाजिक सस्था समाज का अग है और वह मनुष्य के जीवन के उन्ही अशो से सबद्ध रहती हैं, जिन पर समाज की सत्ता है।

मानव-स्वभाव का जो अश समाज के विधि-निषेध की परिधि से बाहर अस्तित्व रखता है, उसके लिए सामाजिक सस्था नही बनाई जा सकती, पर उस तक समष्टि के सुख दु खो की अनुभूति पहुचाकर उसे समाजोन्मुख किया जा सकता है।

परतु यह कार्य वही व्यक्ति कर सकता है, जिसे समाज के सौंदर्य और विरूपता, सुख और दु ख की व्यष्टिगत पर तीव्र अनुभूति होती है। समाज अन्य क्षेत्रो के समान इसके हाथ मे कोई विधि निषेध शास्त्र देकर नही कह सकता . 'मैं तुम्हे कवि, नाटककार कथाकार आदि के कर्त्तव्य पर नियुक्त करता हू, तुम मेरे विधान के स्थायित्व के लिए कार्य करो।'

वस्तुत समाज किसी साहित्यकार के अतर्जगत की हलचल से परिचित तब होता है जब वह अभिव्यक्ति पा लेती है। इस अभिव्यक्ति से पहले अनुभावक की शक्तियों से और उसकी अनुभूति की तीव्रता से समाज अपरिचित रहता है और यह अपरिचय एक सीमा तक व्यक्ति और समाज को दो परस्पर विरोधी पक्षो मे भी खडा कर सकता है।

साहित्य समाज की अपराजेय शक्ति है, पर क्या उसी प्रकार निर्झर पर्वत की अपराजेय शक्ति नही है?

क्या पर्वत की शक्ति होने के कारण उसे उसकी कठोर शिलाओ से सघर्ष नही करना पडता? पर्वत से सर्वथा अनुकूल स्थिति रखने के लिए तो प्रपात को जमकर शिलायित होना पडेगा।

सतान का जन्म माता की पीडा का भी जन्म है। इसी प्रकार साहित्य भी समाज में, समाज के लिए निर्मित होकर भी उसमें कोई उद्वेलन, कोई असतोष उत्पन्न करता ही है। ऐसी स्थिति मे समाज साहित्य को सामाजिक और श्रेष्ठ सामाजिक कर्म के रूप मे स्वीकार न करे तो आश्चर्य की बात नहीं।

जिस युग मे समाज की दबी हलचलें उसके अन्य क्षेत्रो मे भी कुछ असतोष

उत्पन्न करने लगती हैं, उनमें साहित्य सहज नेतृत्व प्राप्त कर लेता है; परंतु जिन युगों मे समाज के अवचेतन मन पर जडता का स्तर कठिन हो जाता है, उनमे साहित्य को या तो स्वय भी जडता का स्तर ओढ लेना पड़ता है या अकेले जूझना।

साहित्य के समष्टिगत लक्ष्य से व्यक्ति-वैचित्र्य की संगति नही बैठती।

लक्ष्यतः साहित्य जीवन के मूल्यो का सरक्षक, परीक्षक, सशोधक तथा आत्मीय प्रेषक रहता है। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति-वैचित्र्य मात्र उसके सवेदन की प्रेषणीयता के मार्ग मे अवरोध ही सिद्ध होगा।

परंतु कभी-कभी साहित्यकार की भावित मानसी सृष्टि के सौंदर्य से उसका युग इतना अपरिचित रहता है कि उसे आत्मीयता नही दे पाता और परिणामतः उसे व्यक्ति-वैचित्र्य कहकर मुक्ति पा लेता है।

भवभूति ने ऐसी ही दुर्वह स्थिति को 'उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपिसमानधर्मा' कहकर व्यक्त किया है।

समग्र तथा सश्लिष्ट जीवन लक्ष्य होने के कारण ही साहित्य किसी एकाकी लक्ष्य से सबद्ध होकर सीमित हो जाता है, परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह जीवन के किसी भी क्षेत्र के मूल्यो का विरोधी है △

हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या

निकट की दूरी हमारे वैज्ञानिक युग की अनेक विशेषताओं मे सामान्य विशेषता बन गई है। जड़ वस्तुओं मे समीपता स्थिति मात्र है, विकास के किसी सचेतन क्रम मे प्रतिफलित होने वाला आदान प्रदान नहीं। एक शिला दूसरी पर गिरकर उसे तोड़ सकती है, एक वृक्ष दूसरे के समीप रहकर उसे छाया दे सकता है, पर ये सब स्थितियां उनका पारस्परिक आदान-प्रदान नहीं कही जाएगी, क्योंकि वह तो चेतना ही का गुण है।

मनुष्य की निकटता की परिणति उस साहचर्य में होती है, जो बुद्धि को बुद्धि से मिलाकर, अनुभव को अनुभव मे लय करके, समष्टिगत बुद्धि को अभेद और समष्टिगत अनुभव को समृद्ध करता है। आधुनिक युग अपने साधनो से दूराति-दूर को निकट लाकर स्थिति मात्र उत्पन्न करने मे समर्थ है, जो अभेद बुद्धि और अनुभवों की संगति के बिना अपूर्ण होने के साथ-साथ जीवन-क्रम मे बाधक भी हो सकती है।

उदाहरणार्थ, पथ के सहयात्री भी एक-दूसरे के समीप होते हैं, और युद्ध-भूमि पर परस्पर विरोधी सैनिक भी, परन्तु दोनों प्रकार के सामीप्य परिणामत: कितने भिन्न हैं! पहली स्थिति मे एक दूसरे की रक्षा के लिए प्राण तक दे सकता है और दूसरी समीपता मे एक-दूसरे के बचाव के सारे साधन नष्ट कर उसे नष्ट करना चाहता है। हमारे मस्तक पर आकाश मे उमड़ता हुआ बादल और उमड़ता हुआ बमवर्षक यान दोनो ही हमारे समीप कहे जाएंगे, परन्तु स्थिति एक होने पर भी परिणाम विरुद्ध ही रहेंगे। जिनके साथ मन शंकारहित नहीं हो सकता, उनकी निकटता संघर्ष की जननी है। इसी से आज के युग मे मनुष्य पास है, परन्तु मनुष्य का शंकाकुल मन पास आने वालो से दूर होता जा रहा है। स्वस्थ आदान प्रदान के लिए मनो की निकटता पहली आवश्यकता है।

हमारे विस्तार और विविधता-भरे देश की प्रतिभा ने अपनी विकास-यात्रा के प्रथम प्रहर मे ही जीवन की तत्त्वगत एकता का ऐसा सूत्र खोज लिया

उत्पन्न करने लगती हैं, उनमे साहित्य सहज नेतृत्व प्राप्त कर लेता है; परंतु जिन युगो मे समाज के अवचेतन मन पर जड़ता का स्तर कठिन हो जाता है, उनमे साहित्य को या तो स्वयं भी जड़ता का स्तर ओढ़ लेना पड़ता है या अकेले जूझना।

साहित्य के समष्टिगत लक्ष्य से व्यक्ति-वैचित्र्य की संगति नहीं बैठती।

लक्ष्यतः साहित्य जीवन के मूल्यो का सरक्षक, परीक्षक, संशोधक तथा आत्मीय प्रेषक रहता है। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति-वैचित्र्य मात्र उसके सवेदन की प्रेषणीयता के मार्ग मे अवरोध ही सिद्ध होगा।

परंतु कभी-कभी साहित्यकार की भावित मानसी सृष्टि के सौंदर्य से उसका युग इतना अपरिचित रहता है कि उसे आत्मीयता नही दे पाता और परिणामतः उसे व्यक्ति-वैचित्र्य कहकर मुक्ति पा लेता है।

भवभूति ने ऐसी ही दुर्वह स्थिति को 'उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपिसमानधर्मा' कहकर व्यक्त किया है।

समग्र तथा सश्लिष्ट जीवन लक्ष्य होने के कारण ही साहित्य किसी एकाकी लक्ष्य से सबद्ध होकर सीमित हो जाता है, परतु इसका यह तात्पर्य नही कि वह जीवन के किसी भी क्षेत्र के मूल्यों का विरोधी है △

हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या

निकट की दूरी हमारे वैज्ञानिक युग की अनेक विशेषताओ मे सामान्य विशेषता बन गई है। जड वस्तुओ मे समीपता स्थिति मात्र है, विकास के किसी सचेतन क्रम मे प्रतिफलित होने वाला आदान प्रदान नही। एक शिला दूसरी पर गिरकर उसे तोड सकती है, एक वृक्ष दूसरे के समीप रहकर उसे छाया दे सकता है, पर ये सब स्थितियां उनका पारस्परिक आदान-प्रदान नही कही जाएगी, क्योंकि वह तो चेतना ही का गुण है।

मनुष्य की निकटता की परिणति उस साहचर्य मे होती है, जो बुद्धि को बुद्धि से मिलाकर, अनुभव को अनुभव मे लय करके, समष्टिगत बुद्धि को अभेद और समष्टिगत अनुभव को समृद्ध करता है। आधुनिक युग अपने साधनो से दूराति-दूर को निकट लाकर स्थिति मात्र उत्पन्न करने मे समर्थ है, जो अभेद बुद्धि और अनुभवो की सगति के बिना अपूर्ण होने के साथ-साथ जीवन-क्रम मे बाधक भी हो सकती है।

उदाहरणार्थ, पथ के सहयात्री भी एक-दूसरे के समीप होते हैं, और युद्ध-भूमि पर परस्पर विरोधी सैनिक भी, परतु दोनो प्रकार के सामीप्य परिणामतः कितने भिन्न हैं! पहली स्थिति मे एक दूसरे की रक्षा के लिए प्राण तक दे सकता है और दूसरी समीपता मे एक-दूसरे के बचाव के सारे साधन नष्ट कर उसे नष्ट करना चाहता है। हमारे मस्तक पर आकाश मे उमडता हुआ बादल और उमडता हुआ बमवर्षक यान दोनो ही हमारे समीप कहे जाएगे, परतु स्थिति एक होने पर भी परिणाम विरुद्ध ही रहेंगे। जिनके साथ मन शकारहित नही हो सकता, उनकी निकटता सघर्ष की जननी है। इसी से आज के युग मे मनुष्य पास है, परतु मनुष्य का शकाकुल मन पास आने वालो से दूर होता जा रहा है। स्वस्थ आदान प्रदान के लिए मनो की निकटता पहली आवश्यकता है।

हमारे चितन और विविधता-भरे देश की प्रतिभा ने अपनी विकास-यात्रा के प्रथम प्रहर मे ही जीवन की तत्त्वगत एकता का ऐसा सूत्र खोज लिया था,

जिसकी सीमा प्राणिमात्र तक फैल गई। हमारे विकास-पथ पर व्यष्टिगत बुद्धि समष्टिगत बुद्धि के इतने समीप रही है और व्यक्तिगत हृदय समष्टिगत हृदय का ऐसा अभिन्न सगी रहा है कि अपरिचय का प्रश्न ही नही उठा। इसी से संपूर्ण भौगोलिक विभिन्नता और उसमे बटा जीवन एक ही सांस्कृतिक उच्छ्वास मे स्पदित और अभिन्न रह सका है।

कही किसी सुदर भविष्य मे, अपरिचय इस ऐक्य के सूक्ष्म बंधन को छिन्न न कर डाले, सभवत: इसी आशका से अतीत के चितको ने देश के कोने-कोने मे बिखरे जीवन को निकट लाने के साधनो की खोज की। ऐसे तीर्थ, जिनकी सीमा का स्पर्श जीवन की चरम सफलता का पर्याय है, ऐसे पुण्यपर्व, जिनकी छाया मे वर्ण, देश, भाषा आदि की भित्तिया मिट जाती हैं, ऐसी यात्राए, जो देश के किसी खड को अपरिचित नही रहने देती, आदि-आदि सब अपरिचय को दूर रखने के उपाय ही कहे जाएगे।

अच्छे बुने हुए वस्त्र मे जैसे ताना-बाना व्यक्त नही होता, वैसे ही हमारी सांस्कृतिक एकता मे प्रयास प्रत्यक्ष नही है। पर है वह निश्चय ही युगो की अविराम और अथक साधना का परिणाम। राजनीतिक उत्थान-पतन, शासनगत सीमाएं और विस्तार हमारे मन को बाधने मे असमर्थ ही रहे, अत: किसी भी कोने से आने वाले चिंतन, दर्शन, आस्था या स्वप्न की क्षीणतम चाप भी हमारे हृदय मे अपनी स्पष्ट प्रतिध्वनि जगाने मे समर्थ हो सकी।

जीवन के सत्य तक पहुचाने वाले हमारे सिद्धातो मे ऐसा एक भी नही है, जिसमे असख्य तत्त्वान्वेषियो के चिंतन की रेखाए न हो, उसे दिवता देने वाले आदर्शों मे ऐसा एक भी नही है, जिसमे अनेक साधको की आस्था की सजीवता न हो और उसे सुदर बनाने वाले स्वप्नो मे एक भी ऐसा नही है, जिसमे युग-युगों के स्वप्नद्रष्टाओं की दृष्टि का आलोक न हो।

पर नया जल तो समुद्र को भी चाहिए, नदी-नालो की तो चर्चा ही व्यर्थ है। यदि अपनी क्रमागत एकता को सजीव और व्यापक रखने मे हमारा युग कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नही देता, तो वह अपने महान् उत्तराधिकार के उपयुक्त नही कहा जाएगा।

युगो के उपरात हमारा देश एक राजनीतिक इकाई बन सका है, परतु आज यदि हम इसे सास्कृतिक इकाई का पर्याय मान लें, तो यह हमारी भ्राति ही होगी।

कारण स्पष्ट है। राजनीतिक इकाई जीवन की बाह्य व्यवस्था से सबध रखती है, अत. वह बल से भी बनाई जा सकती है। परतु सास्कृतिक इकाई आत्मा की उस मुक्तावस्था मे बनती है, जिसमें मनुष्य भेदों से अभेद की ओर, अनेकता से एकता की ओर चलता है। इस मुक्तावस्था को सहज करने के लिए

बुद्धि से बुद्धि और हृदय से हृदय का तादात्म्य अनिवार्य हो जाता है।

इस सबध मे विचार करते समय अपने युग की विशेष स्थिति की ओर भी हमारा ध्यान जाना स्वाभाविक है। हर क्राति, हर सघर्ष और हर उथल-पुथल अपने साथ कुछ वरदान और कुछ अभिशाप लाते है। वर्षा की बाढ़ अपने साथ जो कूडा-कर्कट बहा लाती है, वह उसके वेग मे न ठहर पाता है, और न असुदर जान पडता है, पर बाढ के उतर जाने पर जो कूडा-कर्कट छिछले जल या तट से चिपककर स्थिर हो जाता है, वह असुदर भी लगता है और जल की स्वच्छता भी नष्ट करता रहता है। दीर्घ और अनवरत प्रयत्न के उपरात ही लहरें उसे धारा के बहाव मे डालकर जल को स्वच्छ कर पाती हैं।

बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति हमारे युग की है। सघर्ष के दिनो मे राजनीतिक स्वतत्रता हमारी दृष्टि का केंद्र-बिंदु थी, और समस्याए भी जीवन के उसी अश से सबद्ध रहकर महत्त्व पाती थी। परतु स्वतत्रता की प्राप्ति के उपरात सघर्ष-जनित वेग के अभाव मे हमारी गति मे ऐसी शिथिलता आ गई, जिसके कारण हमारे सास्कृतिक स्तर का निम्न और जड हो जाना स्वाभाविक था। इसके साथ ही जीवन के विविध पक्षो की समस्याए अपने-अपने समाधान मागने लगी। स्वतत्रता, अप्राप्ति के दिनों मे साध्य और उपभोग के समय साधन मात्र रह जाती है, इसी से वह अपने आप मे निरपेक्ष और पूर्ण नही कही जाएगी। जो राष्ट्र राजनीतिक स्वतत्रता को जीवन के सर्वांगीण विकास का लक्ष्य दे सकता है, उसके जीवन मे गतिरोध का प्रश्न नही उठता, पर साधन को साध्य मान लेना, गति के अत का दूसरा नाम है।

सभ्यता और सस्कृति पर अपना दावा सिद्ध करने के लिए किसी भी समाज के पास उसका लौकिक व्यवहार ही प्रमाण रहता है। अन्य कसौटिया महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं, परतु प्रथम नही।

दर्शन, साहित्य आदि से सबद्ध उपलब्धिया तो व्यक्ति के माध्यम से आती है। कभी वे समष्टि की अव्यक्त या व्यक्त प्रवृत्तियो का प्रतिनिधित्व करती हैं और कभी उनका विरोध। एक अत्यत युद्धप्रिय जाति मे ऐसा विचारक या साहित्यकार भी उत्पन्न हो सकता है, जो शाति को जीवन का चरम लक्ष्य घोषित करे और ऐसा भी, जो उसी प्रवृत्ति की महत्ता और उपयोगिता सिद्ध करे।

पर सभ्यता और सस्कृति किसी एक मे सीमित न होकर सामाजिक विशेषता है, जिसका मूल्याकन समाजबद्ध व्यक्तियो के पारस्परिक व्यवहार मे ही सभव है। यह कृति न होकर जीवन की ऐसी शैली है, जिसकी मिट्टी से साहित्य, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान की कृतिया सभव होती हैं।

विगत कुछ वर्षों से हमारे जीवन से संस्कार के बंधन टूटते जा रहे हैं और यदि यही क्रम रहा, तो आसन्न भविष्य में हमारे लिए संस्कृति पर अपना दावा सिद्ध करना कठिन हो जाएगा। हर पत्ते और सजीव फूल वृन्त से एक रसमयता में बंधे रहते हैं; पर बिखरने वाली पखुड़ियां और झड़ने वाले पत्ते न वृन्त के रस से रसमय रहते हैं, न वृन्त की जीवनी शक्ति से संतुलित।

हमारे समाज के संबंध में भी यही सत्य होता जा रहा है। न वह जीवन के व्यापक नियम से प्राणवत है और न अपने देशगत संस्कार से रसमय। उसकी यह विच्छिन्नता उसके बिखरने की पूर्व सूचना है या नहीं, यह तो भविष्य ही बता सकेगा, पर इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि यह जीवन के स्वास्थ्य का चिह्न नहीं।

हमारे विषम आचरण, भ्रांत असंस्कृत आवेग आदि प्रमाणित करते हैं कि हमारा मनोजगत् ही ज्वरग्रस्त है।

यह सत्य है कि हमारी परिस्थितियां कठिन हैं, पर यह भी मिथ्या नहीं कि हमारी मानसिक स्थिति हमें न किसी परिस्थिति के निदान का अवकाश देती है और न संघर्ष के अनुरूप साधन खोजने का। हम थकते हैं, परंतु हमारी थकावट के मूल में किसी सुनिश्चित लक्ष्य के प्रति आस्था नहीं है। हमारी क्रियाशीलता रोगी की छटपटाहट और क्षण-क्षण करवटें बदलने की क्रिया है, जो उसकी चिंतनीय स्थिति की अभिव्यक्ति मात्र है। हर मानव-समाज के जीवन में ऐसे संक्रांतिकाल आते रहते हैं, जब उसकी मान्यताओं का कायाकल्प होता है, मूल्यांकन के मान नये होते हैं और जीवन की गति में पुरानी गहराई के साथ नयी व्यापकता का संगम होता है। परंतु, जैसे नवीन वेगवती तरंग का पुरानी मंथर लहर में मिलकर अधिक विशाल हो जाना स्वाभाविक और अनायास होता है, वैसे ही संस्कार और अधिक संस्कार, मूल्य और अधिक मूल्य का संगम सहज होता है, सुंदर और सुंदरतर, शिव और शिवतर, आंशिक सत्य और अधिक आंशिक सत्य में कोई तात्विक विरोध नहीं हो सकता। सुंदरतम्, शिवतम् और पूर्ण सत्य तक पहुंचने के लिए हमें सुंदर, शिव और आंशिक सत्य को कुरूप, अशिव और असत्य बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती और जिस युग का मानव यह सिद्धांत भुला देता है, उस युग के सामने सत्य, शिव, सुंदर तक पहुंचने का मार्ग रुद्ध हो जाता है। आलोक तक पहुंचने के लिए जो अपने सब दीपक बुझा देता है, उसे अंधेरे में भटकना ही पड़ेगा। किसी समाज को ऐसे लक्ष्यरहित कार्य से रोकने के लिए अनेक अंतर-बाह्य संस्कारों की परीक्षा करनी पड़ती है, निर्माण में उसकी आस्था जगानी पड़ती है, संघर्ष को सृजन-योग बनाना पड़ता है।

आधुनिक युग में मानसिक संस्कार के लिए दर्शन, आधुनिक साहित्य, शिक्षा

आदि के जितने साधन उपलब्ध हैं, वे न द्रुतगामी है न सुलभ। पर, साधनो की खोज मे हमारी दृष्टि यन्त्र-युग की विशाल कठोरता की छाया मे भी जीवित रह सकने वाली मानव-सवेदना की ओर न जा सके, तो आश्चर्य की बात होगी।

हमारे चारो ओर कभी प्रदेश, कभी भाषा, कभी जाति, कभी धर्म के नाम पर उठती हुई प्राचीरें प्रमाणित करती हैं कि बौद्धिक दृष्टि से हमारा लक्ष्य अभी कुहराच्छन्न है। पर जिस दिन हमारी बुद्धि मे अभेद और सामजस्य होगा, उस दिन हमारी सास्कृतिक परपरा को नयी दिशा प्राप्त हो सकेगी। जीवन के नव निर्माण मे साहित्य और कला विशेष योगदान देने मे समर्थ हैं, क्योकि वे मानव-भावना के उद्‌गीथ हैं। जब भावयोगी मनुष्य, मनुष्य के निकट पहुचने के लिए दुर्लंघ्य पर्वतो और दुस्तर समुद्रो को पार करने मे वर्षो का समय बिताता था, उस युग मे भी मानवमात्र की एकता के वे ही वैतालिक रहे हैं।

आज जब विज्ञान ने वर्षो को घटो मे बदल दिया है, तब साहित्य, कला आदि मनुष्य को मनुष्य से अपरिचित क्यो रहने दें, बुद्धि को बुद्धि का आतक क्यो बनने दें और हृदय के विरोध में क्यो खडा होने दें ?

हम विश्व-भर से परिचय की यात्रा मे निकलने के पहले यदि अपने देश के हर कोने से परिचित हो लें, तो इसे शुभ शकुन ही मानना चाहिए। यदि घर मे अपरिचय के समुद्र से विरोध और आशका के काले बादल उठते रहें, तो हमारे उजले सकल्प पथ भूल जाएगे। अत दूरी को निकटता बनाने के मुहूर्त मे हमे निकट की दूरी से सावधान रहने की आवश्यकता है △

छायावाद

अपने मूल्य को बढ़ाने के लिए दूसरों का मूल्य घटा देना यदि हमारे स्वभावगत न हो जाता तो हमने उस जागरण-युग को अधिक महत्त्व दिया होता, जिसकी उग्र वाणी ने पहले-पहल स्थायी ववडर से उसके लक्ष्य का नाम पूछा, जिसकी पैनी दृष्टि ने पहले बढ़कर विकृति के अक्षरो में प्रकृति की भाग्य-लिपि पढ़ी और जिसकी धीर गति ने सर्वप्रथम नवीन पथ के कांटे तोड़े।

परिवर्तन को सभव करने का श्रेय, राजनीति, समाज, धर्म आदि से संबध रखने वाली परिस्थितियों को भी देना होगा, परंतु उस जागरण-काव्य के वैतालिको मे यदि सक्रिय प्रेरणा के स्थान मे आज की विवादैषणा होती तो सभवतः अब तक हम इसी उलझन मे पड़े रहते कि नायिकाओं की प्रशस्ति वंशस्थ मे गाई जावे या ऋग्वेद की ऋचाए सवैया मे उतारी जावें। विवाद का साधन से साध्य बन जाना बहुत स्वाभाविक होता है और साध्य बनकर वह हमारी बौद्धिक प्रेरणाओं और मानसिक प्रवृत्तियो का कोई और क्रियात्मक उपसहार असंभव कर देता है, इसी मे क्रिया के अकालक्षम आह्वान के अवसर पर हम विवाद की क्षमता नही रखते।

उस जागरण-युग मे बहुत विस्तार से फैले हुए आदर्श और सारतः सक्षिप्त किये हुए यथार्थ के पीछे जो पीठिका रही, वह अनेकरूपी परिस्थितियो से बनी और भिन्नवर्णी परिवर्तनो से रंगी थी।

एक दीर्घकाल से कवि के लिए, सप्रदाय अक्षयवट और दरबार कल्पवृक्ष बनता आ रहा था और स्थिति का बदलना एक व्यापक उलट-फेर के बिना सभव ही नही था, जो समय से सहज हो गया।

शासन के रंगमंच पर नयी शक्ति का आविर्भाव होते ही काव्य के केन्द्रो का बदलना क्यों सभव हो गया, इसे हम जानते ही हैं, परतु ज्ञातव्य की पुनरावृत्ति भी अज्ञान की पुनरावृत्ति नही होती। यह तो स्पष्ट ही है कि नवागत शासक-सत्ता के दृष्टिकोण मे धार्मिक कट्टरता न होकर व्यावसायिक लाभ प्रधान रहा

और व्यवसायी दूसरे पक्ष को न सतर्क प्रतिद्वंद्वी बनाना चाहता है, न सजग शत्रु। विरोध में दो ही स्थितियां संभव हैं। यदि विपक्ष सबल है तो जय के लिए निरंतर संघर्ष करता रहेगा और यदि निर्बल है तो पराजित होकर द्वेष से जलता और षड्यंत्र रचता रहेगा। इसके अतिरिक्त व्यवसाय के लिए संख्या भी विशेष महत्त्व रखती है, क्योंकि संपन्न से दरिद्र तक को घेर लेने की शक्ति ही व्यापारिक सफलता का मापदंड है। चतुर से चतुर व्यापारी भी केवल सम्राटों से व्यापार कर अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकता। अतः नवीन शासक-वर्ग विजेता के समारोह के बिना ही एक चतुर अतिथि के समान हमारी देहली पर आ बैठा और आत्मकथा के बहाने अपनी संस्कृति के प्रति हमारे मन में ऐसी परिचयभरी ममता उत्पन्न करने लगा कि उसे आंगन में न बुला लाना कठिन हो गया। एक संस्कृति जो पांच-सौ वर्षों में न कर सकी, उसे दूसरी ने डेढ़ सौ वर्षों में कितनी पूर्णता के साथ कर लिया है, इसे देखना हो तो हम अपना-अपना जीवन देख लें।

हमारे बाह्य अंधानुकरण और मानसिक दासता के पीछे न कुछ क्षोभ है न खिन्नता। अतः यह तो मानना ही होगा कि वह नवागत विपक्षी परिचित पर विस्मृत मित्र की भूमिका में आया। इसके अतिरिक्त अतीत के निष्फल पर निरंतर संघर्ष से हम इतने द्वेष-जर्जर और क्लांत हो रहे थे कि तीसरी शक्ति की उपस्थिति हमारे लिए विराम जैसी सिद्ध हुई।

उसका धर्म भी भाले की नोक पर न आकर इंजेक्शन की महीन सुइयों में आया, जिसका पता परिणाम में ही चल सकता था। इसी से जब एक बार इच्छाओं की राख में से रोष की चिनगारी कुरेदकर, हमने संघर्ष की दावाग्नि उत्पन्न करनी चाही, तब राख के साथ चिनगारी भी उड़ गई।

इस प्रकार तात्कालिक रक्षा और निरंतर संघर्ष का प्रश्न न रहने से सामंत-वर्ग का महत्त्व बाढ़ के जल के समान स्वयं ही घट गया। इतना ही नहीं, वह वर्ग नवीन शासक सत्ता के साथ कुछ समझौता कर अपनी स्थिति को नये सिरे से निश्चित करने में व्यस्त हो गया। ऐसी दशा में कवि किसके इंगित पर व्यायाम करता और कविता किस आशा पर दरबार में नृत्य करती? परिवर्तनों के उस समारोह में काव्य, ऐश्वर्य की कठिन रेखा पार कर जीवन की सरल व्यापकता में पथ खोजने लगा। सामान्य जीवन की स्वच्छता ने काव्य को अर्थ ही नहीं धर्म-केंद्रों से भी इतना विमुख कर दिया कि आज कवि का संत होना संभाव्य माना जाता है, पर संत में कवित्व अतीत की कथामात्र।

राजनीति में उलझी और शासक-सत्ता की ओर निरंतर सतर्क दृष्टि को जब कुछ अवकाश मिला, तब वह धर्म और समाज को समय के साथ रखकर ठीक से देख सकी। हमारे धर्म के क्षेत्र में नवीन प्रेरणाओं का अभाव नहीं रहा,

परंतु तत्कालीन शासक-सत्ता की दृष्टि धर्म-प्रधान होने के कारण वे किसी न किसी प्रकार राजनीति की परिधि में आती रहीं और उससे उलझ-उलझकर अपनी विकासोन्मुख सक्रियता खोती रहीं। अंत में बाह्य विरोध और आंतरिक रूढ़िप्रियता ने धर्म को ऐसी स्थिति में पहुंचा दिया, जहां वह काव्य को नयी स्फूर्ति देने में असमर्थ हो गया।

बदली राजनीतिक परिस्थितियों में धर्म और समाज के क्षेत्रों में सुधारकों का जो आविर्भाव हुआ है, उसे ध्यान में रखकर ही हम खड़ी बोली के आदि युग की काव्य-प्रेरणाओं का मूल्य आंक सकेंगे; क्योंकि उन सबकी मूल प्रवृत्तियां एक हैं, साधन चाहे जितने भिन्न रहे हों।

शून्य में व्याप्त स्वरों को रागिनी की निश्चित रूप-रेखा देने वाली वीणा के समान हमारे जागरण-युग ने जिस परिवर्तन को काव्य की रूप-रेखा में स्पष्ट किया, वह उसके पूर्वगामी युग में भी अशरीरी आभास देता रहा था। यदि वह सुधार का सहचर न होकर कला का सहोदर होता, तो संभवतः उसके आदर्शवाद में बोलने वाले यथार्थ की कथा कुछ और होती। पर एक ओर काव्य की जड़ परंपरा की प्रतिक्रिया में उत्पन्न होने के कारण और दूसरी ओर वातावरण में मंडराती हुई विषमताओं के कारण यह इतनी उग्र सतर्कता लेकर चला कि कला की सीमा-रेखाओं पर उसने विश्राम ही नहीं किया। पर यदि नवीन प्रयोग काव्य में जीवन के परिचायक माने जावें तो वह युग बहुत सजीव है और यदि विषय की विविधता काव्य की समृद्धि का मापदंड हो सके तो वह युग बहुत संपन्न है।

राष्ट्र की विशाल पृष्ठभूमि पर, प्रांतीय भाषाओं की अवज्ञा न करते हुए राजनीतिक दृष्टि से भाषा का जो प्रश्न आज सुलझाया जा रहा है, वह हमें खड़ी बोली के उन साहसी कवियों का अनायास ही स्मरण करा देता है, जिन्होंने काव्य की सीमित पीठिका पर, राम-कृष्ण-काव्य की धात्री देशी भाषाओं का अनादर न करते हुए भी, साहित्यिक दृष्टि से भाषा की अनेकता में एकता का प्रश्न हल किया था।

काव्य की भाषा बदलना सहज नहीं होता और वह भी ऐसे समय जब पूर्वगामी भाषा अपने माधुर्य में अजेय हो, क्योंकि एक तो नवीन अनगढ़ शब्दों में काव्य की उत्कृष्टता की रक्षा कठिन हो जाती है, दूसरे उत्कृष्टता के अभाव में प्राचीन का अभ्यस्त युग उसके प्रति विरक्त होने लगता है।

और छंद तो भाषा के सौंदर्य की सीमाएं हैं, अतः भाषा-विशेष से भिन्न करके उनका मूल्यांकन असंभव हो जाता है। वे प्रायः दूसरी भाषा की सुडौलता को सब ओर से स्पर्श नहीं कर पाते, इसी से या तो उसे अपने बंधनों के अनुरूप काट-छांटकर बेडौल कर देते हैं या अपनी निश्चित सीमा-रेखाओं

को, कहीं दूर तक फैलाकर और कहीं संकीर्ण कर अपने नाद-सौंदर्य-संबंधी लक्ष्य ही से बहुत दूर पहुंच जाते हैं।

तद्भव और अपभ्रंश शब्दों के स्थान में शुद्ध संस्कृत शब्दों को प्रधानता देने वाली खड़ी बोली के लिए उस युग ने वही छंद चुने, जो संस्कृत काव्य में उन शब्दों का भार ही नहीं संभाल चुके थे, नाद-सौंदर्य की कसौटी पर भी परखे जाकर खरे उतर चुके थे। विषय की दृष्टि से उस काव्य-युग के पास जैसी चित्रशाला है, उसका विस्तार यदि विस्मित कर देता है तो विविधता कौतूहल का आधार बनती है। उसमें पौराणिक गाथाएं बोलती हैं और साधारण दृष्टांत कथाएं मुखर हैं। अतीत का गौरव गाता है और वर्तमान विकृतियों से क्रंदन का स्वर मंडराता है। कृषक, श्रमजीवी आदि का श्रम निमंत्रण देता है और आर्त नारी की व्यथा पुकारती है। शापमुक्त पाषाणी के समान परंपरागत जड़ता से छूटी हुई प्रकृति सबको अपने जीवित होने की सूचना देने को भटकती है और भारतीयता से प्रसाधित जातीयता उदात्त-अनुदात्त स्वरों में अलख जगाती है।

आज की राष्ट्रीयता उस युग की वस्तु नहीं है। तब तक एक ओर तो उस संस्कृति के प्रति, हमारी मातृभावना विकसित नहीं हुई थी, जिसके साथ हमारा संघर्ष दीर्घकालीन रहा और दूसरी ओर वर्तमान शासकता की नीति-मत्ता का ऐसा परिचय नहीं मिला था, जिससे हम उसके प्रति तीव्र असंतोष का अनुभव करते। भारतेंदु-युग में भी जातीयता ही राष्ट्रीयता का स्थान भरे हुए है। ऐसी स्थिति में शासक-सत्ता की प्रशस्तियां मिलना भी अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता, परंतु इस प्रवृत्ति को वस्तुस्थिति से भिन्न करके देखने पर हम इसका वह अर्थ लगा देते हैं, जो अर्थ से विपरीत है।

नया पथ ढूंढ लेने वाले प्रपात के समान उग्र और साधन-संपन्न उस युग को देखकर यह प्रश्न स्वाभाविक हो जाता है कि उसके सतर्क यथार्थ और निश्चित आदर्श की छाया में वह सौंदर्ययुग कैसे उत्पन्न हो गया, जिसकी कथा सुरसा और पवनकुमार की कथा बन गई। उत्तर उस युग के अंकगणित के सिद्धांत पर बढ़ने वाले यथार्थ और रेखागणित के अनुसार निश्चित बिंदुओं को जोड़ने के लिए फैलने वाले आदर्श में मिलेगा। धर्म की विकृति से क्षुब्ध आदर्श ऐसी सात्विकता पर ठहरा, जहां वह पत्थर की रेखाओं के समान निस्पंदता में स्थायी होने लगा और समाज की विषमता से सजग यथार्थ ने ऐसी शृंगारहीनता अपनाई कि इतिवृत्त ही उसका अलंकार हो गया।

आदर्श यदि 'यह करो, वह न करो' में शास्त्र की ग्रंथियां खोलता है तो यथार्थ 'यह वैसा है, वह ऐसा नहीं' में इतिहास के पृष्ठ पलटता है। रीति-कालीन प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया में उत्पन्न होने के कारण उसने उसकी त्रुटियां सहस्र नेत्रों से देखी, पर उसके वैभव को अनदेखा कर दिया, इसी से वह उस

सौंदर्य से तादात्म्य न कर सका, जो सब युगों के लिए सामान्य और सब कलाओं का प्राप्य है।

रीति-काल की सौंदर्य-भावना स्थूल और यथार्थ एकांगी था; परंतु उक्तियों में चमत्कार की विविधता, अलंकारों में कल्पना की रंगीनी और भाषा में मधुरता का ऐश्वर्य इतना अधिक रहा कि उसकी संकीर्णता की ओर किसी की दृष्टि का पहुंचना कठिन था। ऐसे ही उत्तेजक स्थूल को राज्यच्युत करने के लिए जब कवि उपदेश-प्रवण आदर्श और इतिवृत्तात्मक यथार्थ के साधन लेकर आया, तब उसका प्रयास स्वयं उसी को थकाने लगा।

कला के क्षेत्र में जो यह जानता है कि स्वप्न झूठे नहीं होते, सौंदर्य पुराना नहीं होता, वही चिरंतन सत्य की चिर नवीन प्रतिमाओं का निर्माण कर सकता है और निरपेक्ष आदर्श को असंख्य रूपों में साकार कर सकता है। कला का उत्कृष्ट निर्माण द्वेष के पखों पर नहीं चलता, अस्त्रों की झनझनाहट में नहीं बोलता और युद्ध के आगन में नहीं प्रतिष्ठित होता। किसी रेखा को छोटी और अस्पष्ट सिद्ध करने के लिए जब हम उसके समानांतर पर दूसरी बडी और स्पष्ट रेखा खींच देते हैं तब हमारे उस निर्माण से कला के निर्माण की कुछ तुलना की जा सकती है। कलाकार निर्माण देकर ध्वंस का प्रश्न सुलझाता है, ध्वंस देकर निर्माण का नहीं; इसी से जब किसी परंपरा का ध्वंस उसकी दृष्टि का केंद्र बन जाता है तब उसमें कला-सृष्टि के उपयुक्त संयम का अभाव हो जाता है।

एक सौंदर्य के अनेक रूपों के प्रति कलाकार का वही दृष्टिकोण रहेगा, जो एक ही देवता की अनेक पूर्ण और अपूर्ण, अखंड और खंडित मूर्तियों के प्रति उपासक का होता है। जो खंडित है, विकलांग है, वह देवता की प्रतिच्छवि नहीं, फलतः पूजा के योग्य भी नहीं माना जाता, पर उपासक उसके स्थान में पूर्ण और अखंड की प्रतिष्ठा करके उसे जल में प्रवाहित कर आता है, चरणपीठ नहीं बना लेता।

कलाकार भी सौंदर्य की खंडित और विकलांग प्रतिमाओं को समय के प्रवाह में छोड़कर उनके स्थान में पूर्ण और अखंड को प्रतिष्ठित करता चलता है। सौंदर्य के मंदिर में ऐसा कुछ नहीं है जो पैरों से कुचला जा सके। जिस युग में कलाकारों की ऐसी अस्वाभाविक इच्छा रहती है वह युग पूर्ण सौंदर्य-प्रतिमा में अपने आपको साकार करके आगत युगों के लिए नहीं छोड़ जाता।

परिस्थितियों की विषमता ने हमारे जागरण-युग को, पिछले सौंदर्य-बोध की संकीर्णता की ओर इतना जागरूक रखा कि उसकी सुकुमार कल्पना और रंगीन स्वप्नों को इतिवृत्तात्मकता की वर्दी पर आदर्श के कवच पहनकर जीवन-संग्राम के लिए परेड करनी पड़ी और जिस दिन वे अपनी चुभनेवाली वेश-

भूपा फेंक्कर विद्रोही बनने लगे, उसी दिन एक ऐसे युग का आरभ हुआ जिसमे वे जीवन की पीठिका पर चक्रवर्ती बन बैठे और अपनी पिछली दासता का प्रतिशोध लेने लगे।

वर्तमान आकाश से गिरी हुई सबधरहित वस्तु न होकर भूतकाल का ही बालक है जिसके जन्म का रहस्य भूतकाल में ही ढूढा जा सकता है। हमारे छायावाद के जन्म का रहस्य भी ऐसा ही है। मनुष्य का जीवन चक्र की तरह घूमता रहता है। स्वच्छद घूमते-घूमते थककर वह अपने लिए सहस्र बधनो का आविष्कार कर डालता है और फिर बधनो से ऊबकर उनको तोडने मे अपनी सारी शक्तिया लगा देता है। छायावाद के जन्म का मूल कारण भी मनुष्य के इसी स्वभाव मे छिपा हुआ है। उसके जन्म से प्रथम कविता के बधन सीमा तक पहुच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छद छद मे चित्रित उन मानव-अनुभूतियो का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है।

उन छायाचित्रो को बनाने के लिए और भी कुशल चितेरो की आवश्यकता होती है, कारण, उन चित्रो का आधार छूने या चर्मचक्षु से देखने की वस्तु नही। यदि वे मानव हृदय में छिपी हुई एकता के आधार पर उसकी सवेदना का रग चढाकर न बनाये जाए तो वे प्रेतछाया के समान लगने लगें या नहीं, इसमें कुछ ही सदेह है।

प्रकाश-रेखाओ के मार्ग मे बिखरी हुई बदलियो के कारण जैसे एक ही विस्तृत आकाश के नीचे हिलोरें लेने वाली जल-राशि मे कही छाया और कही आलोक का आभास मिलने लगता है उसी प्रकार हमारी एक ही काव्यधारा अभिव्यक्ति की भिन्न शैलियो के अनुसार भिन्नवर्णी हो उठी है।

आज तो कवि धर्म के अक्षयवट और दरबार के कल्पवृक्ष की छाया बहुत पीछे छोड आया है। परिवर्तनो के कोलाहल मे काव्य जब से मुकुट और तिलक से उतरकर मध्यवर्ग के हृदय का अतिथि हुआ तब से आज तक वही है और सत्य कहे तो कहना होगा कि उस हृदय की साधारणता ने कवि के नेत्रो से वैभव की चकाचौध दूर कर दी और विषाद ने कवि को धर्मगत सकीर्णताओ के प्रति असहिष्णु बना दिया।

छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है, जो मूर्त्त और अमूर्त्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखडता का भावन किया, हृदय की भाव-भूमि पर उसने प्रकृति मे बिखरी सौंदर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति प्राप्त की और दोनो के साथ स्वानुभूत सुख-दु खो को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी,

जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि नामों का भार संभाल सकी।

छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस संबंध में प्राण डाल दिए, जो प्राचीन काल से बिंब-प्रतिबिंब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी। छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई, अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जल-कण और पृथ्वी के ओस-बिंदुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है। प्रकृति के लघु तृण और महान वृक्ष, कोमल कलियां और कठोर शिलाएं, अस्थिर जल और स्थिर पर्वत, निविड़ अंधकार और उज्ज्वल विद्युत-रेखा, मानव की लघुता-विशालता, कोमलता-कठोरता, चंचलता-निश्चलता और मोह-ज्ञान का केवल प्रतिबिंब न होकर एक ही विराट् से उत्पन्न सहोदर हैं।

किंतु विज्ञान से समृद्ध भौतिकता की ओर उन्मुख बुद्धिवादी आधुनिक युग ने हमारी कविता के सामने एक विशाल प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है, विशेषकर उस कविता के सामने जो व्यक्त जगत् में परोक्ष की अनुभूति और आभास से रहस्य और छायावाद की संज्ञा पाती आ रही है।

यह भावधारा मूलतः नवीन नहीं है, क्योंकि इसका कहीं प्रकट और कहीं छिपा सूत्र हम अपने साहित्य की सीमान्त-रेखा तक पाते हैं। कारण स्पष्ट है। किसी भी जाति की विचार-सरणि, भाव-पद्धति, जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण आदि उसकी संस्कृति से प्रसूत होते हैं। परंतु संस्कृति की कोई एक परिभाषा देना कठिन हो सकता है, क्योंकि न वह किसी जाति की राजनीतिक व्यवस्था मात्र होती है और न केवल सामाजिक चेतना, न उसे नैतिक मर्यादा मात्र कह सकते हैं और न केवल धार्मिक विश्वास। देश-विदेश के जलवायु में विकसित जाति-विशेष के अंतर्जगत् और बाह्य जीवन का वह ऐसा समष्टिगत चित्र है जो अपने गहरे रंगों में भी अस्पष्ट और सीमा में भी असीम है—वैसे ही जैसे हमारे आंगन का आकाश। यह सत्य है कि संस्कृति की बाह्य रूपरेखा बदलती रहती है, परंतु मूल तत्त्वों का बदल जाना, तब तक संभव नहीं होता जब तक उस जाति के पैरों के नीचे से वह विशेष भूखंड और उसे चारों ओर से घेरे रहने वाला वह विशिष्ट वायुमंडल ही न हटा लिया जावे।

जहां तक इतिहास की किरणें नहीं पहुंच पातीं, उसी सुदूर अतीत में जो जाति इस देश में आकर बस गई थी, जहां न बर्फ के तूफान आते थे, न रेत के बवंडर, न आकाश निरंतर ज्वाला बरसाता रहता था और न अविराम रोता, न तिल-भर भूमि और पल-भर के जीवन के लिए मनुष्य का प्रकृति से संघर्ष होता था, न हार, उस जाति की संस्कृति अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व रखती

है। सुजला, सुफला, शस्यश्यामला पृथ्वी के अक मे, मलय-समीर के झोको मे झूलते हुए मुस्कराती नदियो की तरग-भगिमा मे गति मिलाकर, उन्मुक्त आकाशचारी विहगो के कठ से कठ मिलाकर मनुष्य ने जिस जीवन का निर्माण किया, जिस कल्पना और भावना को विस्तार दिया, जिस सामूहिक चेतना का प्रसार किया और जिन अनुभूतियो की अभिव्यजना की, उसके सस्कार इतने गहरे थे कि भीषण रक्तपात और उथल-पुथल मे भी अकुरित होने की प्रतीक्षा मे धूल मे दबे हुए बीज के समान छिपे रहे, कभी नष्ट नही हुए।

वास्तव मे उस प्राचीन जीवन ने मनुष्य को, प्रकृति से तादात्म्य अनुभव करने की, उसके विशिष्टगत सौंदर्य पर चेतन व्यक्तित्व के आरोप की, उसकी समष्टि मे रहस्यानुभूति की, सभी सुविधाए सहज ही दे डाली। हम वीर पुत्रो और पशुओ की याचना से भरी वेद-ऋचाओ मे जो इतिवृत्त पाते है, वही उषा, मरुत आदि को चेतन व्यक्तित्व देकर एक सहज और सरल सौंदर्यानुभूति मे बदल गया है। फिर यही व्यष्टिगत सरल सौंदर्यबोध उस सर्ववाद का अग्रदूत बन जाता है, जिसका अकुर पुरुष सूक्त मे, विश्व पर एक विराट् शरीरत्व के आरोपण द्वारा प्रकट हुआ है। आगे चलकर इसी के निखरे रूप की झलक सृष्टि-सबधी ऋचाओ के गभीर प्रश्नो मे मिलती है, जो उपनिषदो के ज्ञान-समुद्र मे मिलकर उसकी लहर मात्र बनकर रह गया। ज्ञानक्षेत्र के 'तत्वमसि', 'सर्व खल्विद ब्रह्म', 'सोऽहम' आदि ने उस युग के चितन को कितनी विविधता दी है, यह कहना व्यर्थ होगा।

तत्वचितन के इतने विकास ने एक ओर मनुष्य को व्यावहारिक जगत् के प्रति वीतरागी बनाकर निष्क्रियता बढाई और दूसरी ओर अनधिकारियो द्वारा, प्रयोगरूप सिद्धातो को सत्य बन जाने दिया, जिससे रूढिवाद की सृष्टि सभव हो सकी। इसी की प्रतिक्रिया से उत्पन्न बुद्ध की विचारधारा ने एक ओर ज्ञानक्षेत्र की निष्क्रिय चेतना के स्थान मे, अपनी सक्रिय करुणा दी और दूसरी ओर रूढिवाद को रोकने के लिए पुराने प्रतीक भी अस्वीकृत कर दिये। यह क्रम प्रत्येक युग के परिवर्तन मे नये उलटफेर के साथ आता रहा है, इसी से आधुनिक काल के साथ भी इसे जानने की आवश्यकता रहेगी।

कविता के जीवन में भी स्थूल जीवन से सबध रखने वाला इतिवृत्त, सूक्ष्म सौदर्य की भावना, उसका चितन मे अत्यधिक प्रसार और अत मे निर्जीव अनुकृतिया आदि क्रम मिलते ही रहे हैं। इसे और स्पष्ट करके देखने के लिए, उस युग के काव्य-साहित्य पर एक दृष्टि डाल लेना पर्याप्त होगा, जिसकी धारा, वीर-गाथाकालीन इतिवृत्त के विषम शिलाखडो मे से फूटकर निर्गुण-सगुण भावनाओ की उर्वर भूमि में प्रशात, निर्मल और मधुर होती हुई रीतिकालीन रूढिवाद के क्षार जल मे मिलकर गतिहीन हो गई। परिवर्तन का वही

क्रम हमारे आधुनिक काव्य-साहित्य को भी नई रूपरेखाओं में बांधता चल रहा है या नहीं, यह कहना अभी सामयिक न होगा।

रीतिकालीन रूढ़िवाद से थके हुए कवियों ने, जब सामयिक परिस्थितियों से प्रेरित होकर तथा बोलचाल की भाषा में अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता और प्रचार की सुविधा समझकर, व्रजभाषा का जन्मजात अधिकार खड़ी बोली को सौंप दिया, तब साधारणतः लोग निराश ही हुए। भाषा लचीलेपन से मुक्त थी और उक्तियों में चमत्कार न मिलता था। इसके साथ-साथ रीतिकाल की प्रतिक्रिया भी कुछ कम वेगवती न थी। अतः उस युग की कविता की इतिवृत्तात्मकता इतनी स्पष्ट हो चली है कि मनुष्य की सारी कोमल और सूक्ष्म भावनाएं विद्रोह कर उठीं। इसमें संदेह नहीं कि उस समय की अधिकांश रचनाओं में भाषा लचीली न होने पर भी परिष्कृत, भाव सूक्ष्मता-रहित होने पर भी सात्त्विक, छंद नवीनता-शून्य होने पर भी भावानुरूप और विषय रहस्यमय न रहने पर भी लोकपरिचित और संस्कृत मिलते हैं। पर स्थूल सौंदर्य की निर्जीव आवृत्तियों से थके हुए और कविता की परंपरागत नियम-श्रृंखला से ऊबे हुए व्यक्तियों को, फिर उन्हीं रेखाओं में बंधे स्थूल का न तो यथार्थ चित्रण रुचिकर हुआ और न उसका रूढ़िगत आदर्श भाया। उन्हें नवीन रूप-रेखाओं में सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति की आवश्यकता थी, जो छायावाद में पूर्ण हुई।

छायावाद ने नये छंदबंधों में, सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति का जो रूप देना चाहा वह खड़ी बोली की सात्त्विक कठोरता नहीं सह सकता था। अतः कवि ने कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्द को ध्वनि, वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नाप-तोलकर और काट-छांटकर तथा कुछ नये गढ़कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमलतम कलेवर दिया। इस युग की प्रायः सब प्रतिनिधि रचनाओं में किसी न किसी अंश तक प्रकृति के सूक्ष्म सौंदर्य में व्यक्त किसी परोक्ष सत्ता का आभास भी रहता है और प्रकृति के व्यक्तिगत सौंदर्य पर चेतनता का आरोप भी, परंतु अभिव्यक्ति की विशेष शैली के कारण, वे कहीं सौंदर्यानुभूति की व्यापकता, कहीं संवेदन की गहराई, कहीं कल्पना के सूक्ष्म रंग और कहीं भावना की मर्मस्पर्शिता लेकर अनेक वादों को जन्म दे सकी हैं।

पिछले छायापथ को पार कर हमारी कविता आज जिस नवीनता की ओर जा रही है, उसने अस्पष्टता जैसे परिचित विशेषणों में, सूक्ष्म की अभिव्यक्ति, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव, यथार्थ से पलायनवृत्ति आदि नये जोड़कर, छायावाद को अतीत और वर्तमान से संबंधहीन एक आकस्मिक आकाशचारी अस्तित्व देने का प्रयत्न किया है। इन आक्षेपों की अभी जीवन में परीक्षा नहीं हो सकी है, अतः यह हमारे मानसिक जगत् में ही विशेष मूल्य रखते हैं।

कितने दीर्घकाल से वासनोन्मुख स्थूल सौंदर्य का हमारे ऊपर कैसा अधिकार रहा है, यह कहना व्यर्थ है। युगों से कवि को शरीर के अतिरिक्त और कहीं सौंदर्य का लेश भी नहीं मिलता था और जो मिलता था वह उसी के प्रसाधन के लिए अस्तित्व रखता था। जीवन के निम्न स्तर से होता हुआ यह स्थूल, भक्ति की सात्विकता मे भी कितना गहरा स्थान बना सका है यह कृष्णकाव्य का शृंगार-वर्णन प्रमाणित कर देगा।

यह तो स्पष्ट ही है कि खड़ी बोली का सौंदर्यहीन इतिवृत्त उसे हिला भी न सकता था। छायावाद यदि अपने संपूर्ण प्राण-प्रवेग से प्रकृति और जीवन के सूक्ष्म सौंदर्य को असख्य रग रूपो मे अपनी भावना द्वारा सजीव करके उपस्थित न करता तो उस धारा को, जो प्रगतिवाद की विषम भूमि मे भी अपना स्थान ढूंढती रही है, मोड़ना कब संभव होता, यह कहना कठिन है। मनुष्य की निम्नवासना को बिना स्पर्श किए हुए जीवन और प्रकृति के सौंदर्य को उसके *समस्त सजीव वैभव के साथ चित्रित करने वाली उस युग की अनेक कृतिया* किसी भी साहित्य को सम्मानित कर सकेंगी।

फिर मेरे विचार मे तो सूक्ष्म के सबंध का कोलाहल सूक्ष्म से भी परिमाण मे अधिक हो गया है। छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया मे उत्पन्न हुआ, अतः स्थूल को उसी रूप म स्वीकार करना उसके लिए संभव न हुआ; परंतु उसकी सौंदर्य दृष्टि स्थूल के आधार पर नही है, यह कहना स्थूल की परिभाषा को सकीर्ण कर देना है। उसने जीवन के इतिवृत्तात्मक यथार्थ चित्र नहीं दिये, क्योंकि वह स्थूल से उत्पन्न सूक्ष्म सौंदर्य-सत्ता की प्रतिक्रिया थी, अप्रत्यक्ष सूक्ष्म के प्रति उपेक्षित यथार्थ की नहीं, जो आज की वस्तु है। परंतु उसने अपनी क्षितिज से क्षितिज तक विस्तृत सूक्ष्म की सुदर और सजीव चित्रशाला मे, हमारी दृष्टि को दौड़ा-दौड़ाकर ही, उसे विकृत जीवन की यथार्थता तक उतरने का पथ दिखलाया। इसी से छायावाद के सौंदर्य-द्रष्टा की दृष्टि कुत्सित यथार्थ तक भी पहुंच सकी।

यह यथार्थ-दृष्टि यदि सक्रिय सौंदर्य-सत्ता के प्रति नितांत उदासीनता या विरोध लेकर आती है तब उसमे निर्माण के परमाणु नही पनप सकते, इसका सजीव उदाहरण हमे अपनी विकृति के प्रति सजग पर सौंदर्यदृष्टि के प्रति उदासीन या विरोधी यथार्थदर्शियो के चित्रो की निष्क्रियता मे मिलेगा।

हमारी सामयिक समस्याओ के रूप भी छायायुग की छाया मे निखरे ही। राष्ट्रीयता को लेकर लिखे गये जय-पराजय के गान स्थूल धरातल पर स्थित सूक्ष्म अनुभूतियो मे जो मार्मिकता ला सके हैं, वह किसी और युग के राष्ट्रगीत दे सकेंगे या नहीं, इसमे सदेह है। सामाजिक आधार पर 'वह दीपशिखा-सी शांत, भाव मे लीन' मे तप पूत वैधव्य का जो चित्र है, वह अपनी दिव्य लौकि-

कता में अकेला है।

सूक्ष्म की सौंदर्यानुभूति और रहस्यानुभूति पर आश्रित गीत-काव्य अपने लौकिक रूपों में इतना परिचित और मर्मस्पर्शी हो सका कि उसके प्रवाह में युगों से प्रचलित सस्ती भावुकतामूलक और वासना के विकृत चित्र देने वाले गीत सहज ही बह गये। जीवन और कला के क्षेत्र में इनके द्वारा जो परिष्कार हुआ है, वह उपेक्षा के योग्य नहीं। पर अन्य युगों के समान इस युग में भी कुछ निर्जीव अनुकृतियां तो रहेंगी ही।

जीवन की समष्टि में सूक्ष्म से इतने भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह तो स्थूल से बाहर कहीं अस्तित्व ही नहीं रखता। अपने व्यक्त सत्य के साथ मनुष्य जो है और अपने अव्यक्त सत्य के साथ वह जो कुछ होने की भावना कर सकता है, वही उसका स्थूल और सूक्ष्म है और यदि इनका ठीक संतुलन हो सके तो हमें एक परिपूर्ण मानव ही मिलेगा। जहां तक धर्म-गत रूढ़िग्रस्त सूक्ष्म का प्रश्न है, वह तो केवल विधिनिषेधमय सिद्धांतों का संग्रह है, जो अपने प्रयोगरूप को खोकर हमारे जीवन के विकास में बाधक हो रहे हैं। उनके आधार पर यदि हम जीवन के सूक्ष्म को अस्वीकार करें तो हमें जीवन के ध्वंस में लगे हुए अध्यात्म का जैसा विकास पिछले युगों में हो चुका है, विज्ञान का वैसा ही विकास आधुनिक युग में हो रहा है—एक जिस प्रकार मनुष्यता को नष्ट कर रहा है, दूसरा उसी प्रकार मनुष्य को। परंतु हम हृदय से जानते हैं कि अध्यात्म से सूक्ष्म और विज्ञान के स्थूल का समन्वय जीवन को स्वस्थ और सुंदर बनाने में भी प्रयुक्त हो सकता है।

वह सूक्ष्म जिसके आधार पर एक कुत्सित से कुत्सित, कुरूप से कुरूप और दुर्बल से दुर्बल मानव, वानर या वनमानुष की पंक्ति में न खड़ा होकर, सृष्टि में सुंदरतम ही नहीं, शक्ति और बुद्धि में श्रेष्ठतम मानव के भी कंधे से कंधा मिलाकर, उससे प्रेम और सहयोग की साधिकार याचना कर सकता है, वह सूक्ष्म जिसके सहारे जीवन की विषम अनेकरूपता में भी एकता का सेतु ढूंढ़कर हम उन रूपों में सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं, धर्म का रूढ़िगत सूक्ष्म जीवन न होकर जीवन का सूक्ष्म है। इससे रहित होकर स्थूल अपने भौतिक-वाद द्वारा जीवन में वही विकृति उत्पन्न कर देगा, जो अध्यात्म-परंपरा ने की थी।

छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धांतों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौंदर्य-सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।

सिद्धांत एक के होकर सबके हो सकते हैं, अतः हम उन्हें अपने चिंतन में

ऐसा स्थान सहज ही दे देते हैं जहा वे हमारे जीवन से कुछ पृथक् ऐकातिक विकास पाते रहने को स्वतत्र हैं। परतु इन सिद्धातो से मुक्त जो सत्य है, उसकी अनुभूति व्यक्तिगत ही सभव है और उस दशा मे वह प्राय हमारे सारे जीवन को अपनी कसौटी बनाने का प्रयत्न करता है। इसी से स्थूल की अतल गहराई का अनुभव करने वाला देहात्मवादी मार्क्स भी अकेला ही है और अध्यात्म की स्थूलगत व्यापकता की अनुभूति रखने वाला अध्यात्मवादी गाधी भी।

हमारा कवि भक्ति और अनुभूत सत्य की परिधि लाघकर न जाने कितने अर्द्धपरीक्षित और अपरीक्षित सिद्धात बटोर लाता है और उनके मापदड स उसे मापना चाहता है, जिसका मापदड उसका समग्र जीवन ही हो सकता था। अत आज छायावाद के सूक्ष्म का खरा खोटापन कसने की कोई कसौटी नही है।

छायावाद का जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण नही रहा, यह निर्विवाद है, परतु कवि के लिए यह दृष्टिकोण कितना आवश्यक है, इस प्रश्न के कई उत्तर हैं।

वास्तव मे जीवन के साथ इस दृष्टिकोण का वही सबध है जो शरीर के साथ शल्यशास्त्र और विज्ञान का। एक शरीर के खड-खड कर उसके सबध मे सारा ज्ञातव्य जानकर भी हमे उसके प्रति वीतराग रहता है, दूसरा जीवन को विभक्त कर उसके विविध रूप और मूल्य को जानकर भी हम उसके प्रति अनुरक्ति नही देता। इस प्रकार यह बुद्धि-प्रसूत चिंतन मे ही अपना स्थान रखता है। इसीलिए कवि को इससे विपरीत एक रागात्मक दृष्टिकोण का सहारा लेना पडता है, जिसके द्वारा वह जीवन के सुदर और कुत्सित को अपनी सवेदना मे रग कर देता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण जीवन का बौद्धिक मूल्य देता है, चित्र नही; और यदि देता भी है, तो वे एक मासपेशी, शिरा, अस्थि आदि दिखाते हुए उस शरीर-चित्र के समान रहते हैं, जिसका उपयोग केवल शरीर-विज्ञान के लिए है। आज का बुद्धिवादी युग चाहता है कि कवि बिना अपनी भावना का रग चढाये यथार्थ का चित्र दे, परतु इस यथार्थ का कला मे स्थान नही, क्योंकि वह जीवन के किसी भी रूप से हमारा रागात्मक सबध नही स्थापित कर सकता। उदाहरण के लिए हम एक महान और एक साधारण चित्रकार को ले सकते हैं। महान् पहले यह जान लेगा कि किस दृष्टिकोण से एक वस्तु अपनी सहज मार्मिकता के साथ चित्रित की जा सकेगी और अब दो-चार टेढ़ी-मेढी रेखाओ और दो-एक रग के धब्बो से ही दो क्षण मे अपना चित्र समाप्त कर देगा, परतु साधारण एक-एक रेखा को उचित स्थान पर बैठा-बैठाकर उस वस्तु को ज्यो-का-त्यो कागज पर उतारने मे सारी शक्ति लगा देगा। यथार्थ का पूरा चित्र तो पिछला ही है, परतु वह हमारे हृदय को छू न

सकेगा। छू तो वही अधूरा सकता है, जिसमें चित्रकार ने रेखा-रेखा न मिलाकर आत्मा मिलाई है।

कवि की रचना भी ऐसे क्षण में होती है, जिसमें वह जीवित ही नहीं, अपने संपूर्ण प्राण-प्रवेग से वस्तु-विशेष के साथ जीवित रहता है, इसी से उसका शब्दगत चित्र अपनी परिचित इकाई में भी नवीनता के स्तर पर स्तर और एक स्थिति में भी मार्मिकता के दल पर दल खोलता चलता है। कवि जीवन के निम्न स्तर भी काव्य के उपादान से ला सकता है, परंतु वे उसी के होकर सफल अभिव्यक्ति करेंगे और उसके रागात्मक दृष्टिकोण से ही सजीवता पा सकेंगे।

यह रंगीन दृष्टिकोण वास्तव में कुछ अस्वाभाविक भी नहीं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति और जाति के जीवन में यह, एक न एक समय आता ही रहता है। विशेष रूप में यह उस तारुण्य का द्योतक है, जो चांदनी के समान हमारे जीवन की कठोरता, कर्कशता, विषमता आदि को एक स्निग्धता से ढक देता है। जब हम पहले-पहल जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होते हैं, तब अपनी दृष्टि की रंगमयता से ही पथ के कुरूप पत्थरों को रंगीन और सांस की सुरभि से ही कांटों को सुवासित करते चलते हैं। परंतु जैसे-जैसे संघर्ष से हमारे स्वप्न टूटते जाते हैं, कल्पना के पंख झड़ते जाते हैं, वैसे-वैसे हमारे दृष्टिकोण की रंगीनी फीकी पड़ती जाती है और अंत में पलित केशों के साथ इसके भी रंग घुल जाते हैं। यह उस वार्धक्य का सूचक है, जिसमें हमें जीवन से न कुछ पाने की आशा रहती है और न देने का उत्साह। केवल जो कुछ पाया और दिया है, उसी का हिसाब बुद्धि करती रहती है।

जीवन या राष्ट्र के किसी भी महान् स्वप्नद्रष्टा, नवनिर्माता या कलाकार में यह वार्धक्य संभव नहीं, इसी से आज न कवींद्र वृद्ध हैं, न बापू। इनमें जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव नहीं, किंतु वह एक सृजनात्मक भावना से अनुशासित रहता है। विश्लेषणात्मक तथा प्रधानतः बौद्धिक होने के कारण वैज्ञानिक दृष्टिकोण एक ओर जीवन के अखंड रूप की भावना नहीं कर सकता और दूसरी ओर चिंतन में ऐकांतिक होता चला जाता है। उदाहरण के लिए हम अपनी राष्ट्र या जनवाद की भावना ले सकते हैं, जो हमारे युग की विशेष देन है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हम अपने देश के प्रत्येक भूखंड के संबंध में सब ज्ञातव्य जानकर मनुष्य के साथ उसका बौद्धिक मूल्य आंक सकेंगे और वर्ग-उपवर्गों में विभक्त मानव-जीवन के सब रूपों का विश्लेषणात्मक परिचय प्राप्त कर, उसके संबंध में बौद्धिक निरूपण दे सकेंगे; परंतु खंड-खंड में व्याप्त एक विशाल राष्ट्रभावना और व्यष्टि-व्यष्टि में व्याप्त एक विराट् जनभावना हमें इस दृष्टिकोण से ही नहीं मिल सकती। केवल भारतवर्ष के मानचित्र बांटकर, जिस

प्रकार राष्ट्रीय भावना जागृत करना सभव नही है, केवल शतरज के मोहरो के समान व्यक्तियो को हटा-बढाकर जैसे जनभावना का विकास कठिन है, केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जीवन की गहराई और विस्तार नाप लेना भी वैसा ही दुस्तर कार्य है। इसी से प्रत्येक युग के निर्माता को यथार्थ द्रष्टा ही नही स्वप्न-द्रष्टा भी होना पडता है।

छायावाद के कवि को एक नये सौदर्य-लोक मे ही यह भावात्मक दृष्टिकोण मिला, जीवन मे नही, परतु यदि इसी कारण हम उसके स्थान मे केवल बौद्धिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा कर जीवन को पूर्णता मे देखना चाहेगे, तो हम भी असफल ही रहेंगे।

पलायनवृत्ति के सबध मे हमारी यह धारणा बन गई है कि वह जीवन-सग्राम मे असमर्थ छायावाद की अपनी विशेषता है। सत्य तो यह है कि युगो से, परिचित से अपरिचित, भौतिक से अध्यात्म, भाव से बुद्धिपक्ष, यथार्थ से आदर्श आदि की ओर मनुष्य को ले जाने और इसी क्रम से लौटाने का बहुत कुछ श्रेय इसी पलायनवृत्ति को दिया जा सकता है। यथार्थ का सामना न कर सकने वाली दुर्बलता ही इसे जन्म देती है, यह कथन कितना अपरीक्षित है, इसका सबल प्रमाण हमारा चिंतन-प्रधान ज्ञान-युग दे सकेगा। उस समय न जाति किसी कठोर सघर्ष से निश्चेष्ट थी, न किसी सर्वग्रासिनी हार से निर्जीव, न उनका घर धन-धान्य से शून्य था और न जीवन सुख-सतोष से, न उसके सामने सामाजिक विकृति थी और न सास्कृतिक ध्वस। परतु इन सुविधाओ से अति परिचय के कारण उसका तारुण्य, भौतिक को भूलकर चिंतन के नवीन लोक मे भटक गया और उपनिषदो मे उसने अपने ज्ञान का ऐसा सूक्ष्म विस्तार किया कि उसके बुद्धिजीवी जीवन को फिर स्थूल की ओर लौटना पडा।

व्यक्ति के जीवन मे भी यह पलायनवृत्ति इतनी ही स्पष्ट है। सिद्धार्थ ने जीवन के सघर्षों मे पराजित होने के कारण महाप्रस्थान नही किया, भौतिक सुखो के अति परिचय ने ही थकाकर उनकी जीवनधारा को दूसरी ओर मोड दिया था। आज भी व्यावहारिक जीवन मे, पढने से जी चुराने वाले विद्यार्थी को, जब हम खिलौनो से घेरकर छोड देते हैं, तब कुछ दिनो के उपरात वह स्वय पुस्तको के लिए विकल हो जाता है।

जीवन के और साधारण स्तर पर भी हमारी इस धारणा का समर्थन हो सकेगा। चिडियो से खेत की रक्षा करने के लिए मचान पर बैठा हुआ कृषक, जब अचानक खेत और चिडियो को भूलकर बिरहा या कँजरी गा उठता है, तब उसमे खेत-खलिहान की कथा न कहकर अपने किसी मिलन-विरह की स्मृति ही दोहराता है। चक्की के कठिन पाषाण को अपनी सासो से कोमल बनाने का निष्फल प्रयत्न करती हुई दरिद्र स्त्री, जब इस प्रयास को रागमय करती है, तो उसमे

चक्की और अन्न की बात न होकर, किसी आम्रवन मे पड़े भूने की मार्मिक कहानी रहती है। इसे चाहे हम यथार्थ की पूर्ति कहें, चाहे उससे पलायन की वृत्ति, वह परिभाषातीत मन की एक आवश्यक प्रेरणा तो है ही।

छायावाद के जन्मकाल मे मध्यम वर्ग मे ऐसी क्रांति नही थी। आर्थिक प्रश्न इतना उग्र नही था, सामाजिक विषमताओ के प्रति हम सपूर्ण क्षोभ के साथ आज के समान जाग्रत नही हुए थे और हमारे सास्कृतिक दृष्टिकोण पर असंतोष का इतना स्याह रग भी नही चढा था। तब हम कैसे कह सकते हैं कि केवल सघर्षमय यथार्थ जीवन से पलायन के लिए ही, उस वर्ग के कवियो ने एक सूक्ष्म भावजगत् को अपनाया। हम केवल इतना कह सकते है कि उन परिस्थितियो ने आज की निराशा के लिए धरातल बनाया।

उस युग के कतिपय कवियो की कोमल भावनाए तो कारागार की कठोर भित्तियो से टकराकर कर्कश नही हो सकी; परतु इसी कोमलता के आधार पर हम उन कवियो को जीवन-संघर्ष मे असमर्थ नही ठहरा सकेंगे।

छायावाद के आरंभ मे जो विकृति थी आज वह शतगुण हो गई है। उस समय की क्राति की चिनगारी आज सहस्र-सहस्र लपटो मे फैलकर हमारे जीवन को क्षार किये दे रही है। परतु आज भी तो हम अपने शात चिंतन मे बुद्धि से खराद-खरादकर सिद्धांतो के मणि ही बना रहे है। हमारे सिद्धातो की चरणपीठ बनकर ही जो यथार्थ आ सका है, उसे भी हमारे हृदय के वंद से टकरा-टकरा-कर ही लौटना पड रहा है। वास्तव मे हमने जीवन को उसके सक्रिय सवेदन के साथ न स्वीकार करके, एक विशेष बौद्धिक दृष्टिकोण से छू भर दिया है। इसी से जैसे यथार्थ से साक्षात् करने मे असमर्थ छायावाद का भावपक्ष पलायन संभव है, उसी प्रकार यथार्थ की सक्रियता स्वीकार करने मे असमर्थ प्रगतिवाद का चिंतन मे पलायन सहज है। यदि विचारकर देखा जाये, तो जीवन से केवल भावजगत् मे पलायन उतना हानिकारक नही, जितना जीवन से केवल बुद्धिपक्ष मे पलायन, क्योकि एक हमारे कुछ क्षणो को गतिशील कर जाता है और दूसरा हमारा सपूर्ण सक्रिय जीवन माग लेता है।

यदि इन सब उलझनो को पार कर हम पिछले और आज के काव्य को, एक विस्तृत धरातल पर उदार दृष्टिकोण से परीक्षा करें तो हमे दोनों मे जीवन के निर्माण और प्रसाधन के सूक्ष्म तत्त्व मिल सकेंगे। जिस युग मे कवि के एक ओर परिचित और उत्तेजक स्थूल था और दूसरी ओर आदर्श और उपदेशप्रवण इतिवृत्ति, उसी युग मे उसने भावजगत् और सूक्ष्म सौंदर्य-सत्ता की खोज की थी। आज वह भावजगत् के कोने-कोने और सूक्ष्म सौंदर्यगत चेतना के अणु-अणु से परिचित हो चुका है; अतः स्थूल व्यक्त उसकी दृष्टि को विराम देगा। यदि हम पहले मिली सौंदर्य-दृष्टि और आज की यथार्थ दृष्टि का समन्वय कर सकें, पिछली

सक्रिय भावना से बुद्धिवाद की शुष्कता को स्निग्ध बना सकें और पिछली सूक्ष्म चेतना को, व्यापक मानवता मे प्राण-प्रतिष्ठा कर सके, तो जीवन का सामजस्य-पूर्ण चित्र दे सकेंगे। परतु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के समान कविता का भविष्य भी अभी अनिश्चित ही है। पिछले युग की कविता अपनी ऐश्वर्य-राशि मे निश्चल है और आज की, प्रतिक्रियात्मक विरोध मे गतिवती। समय का प्रवाह जब इस प्रतिक्रिया को स्निग्ध और विरोध को कोमल बना देगा, तब हम इनका उचित समन्वय कर सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

इस विश्वास के लिए पर्याप्त कारण हैं। छायावाद आज के यथार्थ से दूर जान पडने पर भी भारतीय काव्य की मूल प्रेरणाओ के निकट है। उसके प्रतिनिधि कवि, भारतीय सस्कृति, दर्शन तथा प्राचीन साहित्य से विशेष परिचित रहे। पश्चिमीय और बगला काव्य साहित्य से उनका परिचय हुआ अवश्य, परतु उसका अनुकरण मात्र काव्य को इतनी समृद्धि नही दे सकता था। विशेषत. बगला से उन्हे जो मिला, वह तत्त्वत भारतीय ही था, क्योकि कवीद्र स्वय भारतीय सस्कृति के सबसे समर्थ प्रहरी हैं। उन्होने अपने देश की अध्यात्म-सुधा से पश्चिम का मृत्तिका-पात्र भर दिया, इसी से भारतीय कवियो ने उसके दान को अपना ही मानकर ग्रहण किया और पश्चिम ने कृतज्ञता के साथ।

प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप, कल्पनाओ की समृद्धि, स्वानुभूत सुख दु खो की अभिव्यक्ति, इस काव्य की ऐसी विशेषताए हैं, जो परस्पर सापेक्ष रहेगी।

जहा तक भारतीय प्रकृतिवाद का सबध है, वह दर्शन के सर्ववाद का काव्य मे भावगत अनुवाद कहा जा सकता है। यहा प्रकृति दिव्य शक्तियो का प्रतीक भी बनी, उसे जीवनसगिनी बनने का अधिकार भी मिला, उसने अपने सौदर्य और शक्ति द्वारा अखड और व्यापक परम तत्त्व का परिचय भी दिया और वह मानव के रूप का प्रतिबिंब और भाव का उद्दीपन बनकर भी रही।

वेदकालीन मनीषी उसे अजर सौदर्य और अजस्र शक्ति का ऐसा प्रतीक मानता है, जिसके बिना जीवन की स्वस्थ गति सभव नही। वह मेघ को प्राकृतिक परिणाम नही, चेतन व्यक्तित्व के साथ देखता है।

वातत्विषो मरुतो वर्षनिर्णिजो यमा इव सुसदृशः सुपेशस.।
पिशङ्गाश्वा अरुणाश्वा अरेपस प्रत्वक्षसो महिना द्यौरिव.॥

ऋ० ५-५७-४

× × ×

सुजातासो जनुषा रुक्मवक्षसो दिवो अर्का अमृत नाम भेजिरे।

ऋ० ५-५७-५

[विद्युत-प्राण (तीक्ष्ण कांति) से उद्भासित, जल-धारा के परिधान से वेष्टित यह मरुत् एक से सुंदर और शोभन हैं। अरुण-पीत अश्वों वाले इन वीरों ने विस्मृत अंतरिक्ष छा लिया है।

कल्याणार्थ उत्पन्न, ज्योतिर्मय वक्ष वाले इन आकाश के गायकों की ख्याति अमर है।]

ऐसे चित्र-गीतों ने मेघदूत के मेघ से लेकर आज तक के मेघ-गीतों को कितनी रूपरेखा दी है, यह अनुमान कठिन नहीं।

बादल गरजो !
घेर-घेर घोर गगन धाराधर ओ !
ललित ललित काले घुंघराले,
बाल कल्पना के-से पाले,
विद्युत-छवि उर में कवि नव जीवन वाले।
वज्र छिपा नूतन कविता फिर भर दो !—निराला

इस गीत की रूप-रेखा ही नहीं, इसका स्पंदन भी ऐसी सनातन प्रवृत्ति से सबद्ध है, जो नये-नये रूपों में भी तत्त्वतः एक रह सकी। इसी प्रकार—

अभ्रासि रात्रि चमसो नविष्टो विश्व गोरूपं युवतिर्बिभर्षि।
चक्षुष्मति में उशती वपूंषि प्रति त्वं दिव्यानक्षत्राण्यमुक्थाः॥

अथर्व० १९-१९-८

(हे विश्रामदायिनी कल्याणि ! तू पूर्ण पात्र के समान (शांति से भरी हुई है, नवीन है; सब ओर व्याप्त होकर पृथ्वीरूप हो गई है। सब पर दृष्टि रखने-वाली स्नेहशीले रात्रि ! तूने आकाश के उज्ज्वल नक्षत्रों से अपना शृंगार किया है।

उपर्युक्त गीत में रात्रि का जो चित्र है वह तब से आज तक कवियों को मुग्ध करता आया है।

खड़ी बोली का वैतालिक प्रकृति की रूपरेखा को प्रधानता देता है—

अत्युज्ज्वला पहन तारक मुक्त-माला
दिव्याम्बरा बन अलौकिक कौमुदी से,
भावों भरी परम मुग्धकरी हुई थी
राका-कलाकार-मुखी रजनीपुरन्ध्री।—हरिऔध

छायावाद का कवि रेखाओं से अधिक महत्त्व स्पंदन को दे देता है—

और उसमें हो चला जैसे सहज सविलास
मदिर माधव यामिनी का धीर पद-विन्यास।
कालिमा घुलने लगी घुलने लगा आलोक,
इसी निभृत अनन्त में बसने लगा अब लोक;

राशि राशि नखत-कुसुम की अर्चना अश्रान्त,
बिखरती है, तामरस-सुंदर चरण के प्रांत
मनु निरखते लगे ज्यों-ज्यों यामिनी का रूप,
वह अनंत प्रगाढ छाया फैलती अपरूप ?—प्रसाद

तिमिराञ्चल मे चञ्चलता का नहीं कहीं आभास
मधुर मधुर है उसके दोनो अधर
किंतु जरा गंभीर—नहीं है उसमे हास-विलास ?
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले काले बालों से।—निराला

प्रसाद जी अपनी सुनहली तूलिका से इडा का चित्र खीचते हैं—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल ?
था एक हाथ मे कर्मकलश वसुधा का जीवन-सार लिये,
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिये,
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी आलोक-वसन लिपटा अराल,

यह रूप-दर्शन हमें ऋग्वेद की उषा के सामने खड़ा कर देता है—

एषा दिवदुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती शुक्रवासा।
विश्वस्येशाना· ················ · ···· ॥

(वह आकाश की पुत्री अपने उज्ज्वल आलोक-परिधान में वेष्टित किरणों से उद्भासित नवीन और विश्व की समस्त निधियों की स्वामिनी है।)

अरुण शिशु के मुख पर सविलास
सुनहली लट घुँघराली कांत।

× × ×

आलोक-रश्मि से बुने उषा-अञ्चल में आंदोलन अमद—प्रसाद

आदि पंक्तियों मे जो कल्पना मिलती है, वह कुछ परिवर्तित रूप में ऋग्वेद के निम्न गीतों में भी स्थिति रखती है—

हिरण्यकेशा रजसो विसारेऽहि धुनिर्वातर ध्रजीमान।
शुचिभ्राजा उषसो नवेदा ·· ··॥

(सुनहली अलकों वाला वह अंधकार दूर कर दिशाओं में फैल जाता है, अहि के समान (लहरोंवाला), वात-सा गतिशील और उसके कारण का कारण वह आलोकशोभी उषा का ज्ञाता है।)

आ द्यां तनोषि रश्मिभिरान्तरिक्षमुरुप्रियम्।
उष शुक्रेण शोचिषा॥

(हे दीप्तिमति ! तूने इस विस्तृत और प्रिय अन्तरिक्ष को आलोक और किरणों से बुन दिया है।)

6.3.3

'कामायनी' में श्रद्धा के मुख के लिए कवि ने लिखा है—

खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।

इससे हजारों वर्ष पहले अथर्व का कवि लिख चुका है—

सिन्धोर्गर्भोसि विद्युतां पुष्पम्।
(तू समुद्रों का सार है, तू बिजलियों का फूल है)!

उदयाचल से बाल हंस फिर,
उड़ता अंबर में अवदात।—पंत

आदि पंक्तियों में हंस के रूपक से सूर्य का जो चित्र अंकित किया गया है, वह भी अथर्व के निम्न चित्र से विशेष साम्य रखता है।

सहस्रह्ण्य वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
(आकाश में उड़ता हुआ उज्ज्वल हंस (सूर्य) अपनी सहस्रों वर्ष दीर्घ यात्रा तक पंख फैलाए रहता है।)

तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरितस्रजः।—अथर्व

(उसके रूप से ही ये वृक्ष हरी पत्र-मालाएं पहने खड़े हैं) का भाव ही इन पंक्तियों में पुनर्जन्म पा गया है—

तृण वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए?—प्रसाद

आधुनिक कवियों के लिए आज की परिस्थितियों में प्राचीन मनीषियों का अनुकरण करना संभव नहीं था, पर उसकी दृष्टि की भारतीयता से ही उनकी रचनाओं में वे रंग आ गये, जो इस देश के काव्य-तट पर विशेष खिल सकते थे।

विश्व के रहस्य से संबंध रखने वाली जिज्ञासा जब केवल बुद्धि के सहारे गतिशील होती है, तब वह दर्शन की सूक्ष्म एकता को जन्म देती है और जब हृदय का आश्रय लेकर विकास करती है, तब प्रकृति और जीवन की एकता विविध प्रश्नों में व्यक्त होती है।

अथर्व का कवि प्रकृति और जीवन की गतिशीलता को विविध प्रश्नों का रूप देता है—

कथ वात नेलयदि कथ न रमते मन।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदाचन॥

(यह समीर क्यों नहीं चैन पाता? मन भी क्यों नहीं एक ही वस्तु में रमता? (दोनों क्यों चंचल हैं?) कौन से सत्य तक पहुंचने के लिए (जीवन के समान) जल भी निरंतर प्रवाहित है?)

ऐसी जिज्ञासा ने हमारे काव्य को भी रहस्यमय सौंदर्य दिया है—

किसके अत करण-अजिर मे
अखिल व्योम का लेकर मोती,
आँसू का बादल बन जाता
फिर तुषार की वर्षा होती ?—प्रसाद

अलि ! किस स्वप्नो की भाषा मे
इगित करते तरु के पात ?
कहाँ प्रात को छिपती प्रतिदिन
वह तारक-स्वप्नो की रात ?—पत

सस्कृत काव्यो मे प्रकृति दिव्यता के सिंहासन से उतरकर मनुष्य के पग से पग मिलाकर चलने लगती है, अत हम मानव-आकार के समान ही उसकी यथार्थ रूपरेखा देखते हैं और हृदय के साथ गूढ स्पदन सुनते हैं।

वाल्मीकि के वनवासी राम कहते हैं—

ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्या न राजते।
सीतेव आतपश्यामा लक्ष्यते न तु शोभते ॥

(तुषार से मलिन उजियाली रात पूर्णिमा होने पर भी शोभन नही लगती। आतप से कातिहीन अगो वाली सीता के समान प्रत्यक्ष तो है, पर शोभित नही होती।)

पाले से धुधली हेमतिनी राका को, धूप से कुम्हलाई हुई सीता के पार्श्व म खडा करके, वे दोनो का एक ही परिचय दे डालते हैं।

करुणा और प्रकृति के मर्मज्ञ भवभूति और प्रेम तथा प्रकृति के विशेषज्ञ कालिदास ने प्रकृति को उसकी यथार्थ रेखाओ मे भी अकित किया है और जीवन के हर स्वर से स्वर मिलाने वाली सगिनी के रूप मे भी। सस्कृत काव्यो मे चेतन ही नही, जड भी मानव सुख दु ख से प्रभावित होते है।

दु खिनी सीता के साथ—

एते रुदन्ति हरिणा हरित विमुच्य
हसाश्च शोकविधुरा करुण रुदन्ति

हरित तृण छोडकर मृग रोते हैं, शोक विधुर हस करुण क्रदन करते हैं। इतना ही नही, मनुष्य के दु ख से 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलित वज्रस्य हृदयम्' पाषाण भी आसुओ मे पिघल उठते हैं, वज्र का हृदय भी विदीर्ण हो जाता है।

इसी प्रकार विधुर अज के विलाप से

'अकरोत् पृथ्वीरुहानपि स्नुत-शाखा-रस वाष्पदूषितान्'—वृक्ष अपनी शाखाओ के रस रूपी अश्रु-बिंदुओ से गीले हो जाते हैं।

हिंदी काव्य मे भी इस प्रवृत्ति ने विभिन्न रूप पाये हैं। निर्गुण के उपासकों ने प्रकृति मे रहस्यमय अव्यक्त के सौदर्य और शक्ति को प्रत्यक्ष पाया, सगुण

भक्तों ने, उसे अपने व्यक्त इष्ट की रहस्यमयी महिमा और सुषमा की सजीव संगिनी बनाया और रीति के अनुयायियों ने, उसे प्रसाधन मात्र बनाने के प्रयास में भी ऐसा रूप दे डाला, जिसके बिना उनके नायक-नायिकाओं के शरीर-सौंदर्य और भावों का कोई नाम-रूप ही असंभव हो गया।

खड़ी बोली के कवियों ने अपने काव्य में जीवन और प्रकृति को, वैसे ही सजीव, स्वतंत्र, पर जीवन की सनातन सहगामिनी के रूप में अंकित किया है, जैसा संस्कृत काव्य के पूर्वार्द्ध में मिलता है। 'प्रियप्रवास' की तपस्विनी राधा का पवन-दूत, साकेत की वनवासिनी सीता को घेरने वाले मृग-विहंग-लता-वृक्ष, सबके चित्रण में स्पष्ट सरल रेखाएं और सूक्ष्म स्पंदन मिलेगा। प्रकृति को संगिनी के रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति इतनी भारतीय है कि वह उत्कृष्ट काव्यों से लेकर लोकगीतों तक व्याप्त हो चुकी है। ऐसा कोई लोकगीत नहीं, जिसमें मनुष्य अपने सुख-दुःख की कथा कोयल-पपीहा, सूर्य-चंद्र, गंगा-यमुना, आम-नीम आदि को न सुनाता हो और अपने जीवन के प्रश्न सुलझाने के लिए प्रकृति से सहायता न चाहता हो।

छायावाद में यह सर्ववाद अधिक सूक्ष्म रूप पा गया है, जिसमें जड़ तत्त्व से चेतन की अभिन्नता, सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति को जन्म देती है और व्यष्टिगत चेतना से व्यापक चेतना की एकता, भावात्मक दर्शन सहज कर देती है। इसी से कवि रूप-दर्शन को एक विराट पीठिका पर प्रतिष्ठित कर उसे महत्ता देता है और व्यक्तिगत सुख-दुखों को जीवन के अनंत क्रम के साथ रखकर उन्हें विस्तार देता है। प्रकृति के रूप-दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए, उसने वही प्राचीनतम पद्धति स्वीकार की है, जो एक रूप-खंड को दिव्य, अखंड और स्पंदित मूर्तिमत्ता दे सकी और स्वानुभूत सुख-दुःखों को सामान्य बनाने के लिए उसने प्रकृति से ऐसा तादात्म्य किया, जिससे उसका एक-एक स्पंदन प्रकृति में अनेक प्रतिध्वनियां जगाने लगा। कहीं प्रकृति उसके अरूप भावों की परिभाषा ही नहीं, चित्र भी बन जाती है—

> इंदु-विचुंबित बाल-जलद-सा
> मेरी आशा का अभिनय।—पंत

और कहीं वह अपनी तन्मयता में यह भूल जाता है कि प्रकृति के रूपों से मिलते-जुलते भावों के दूसरे नाम हैं, अतः एक की संज्ञा दूसरे के रूप को सहज ही मिल जाती है—

> झंझा झकोर गर्जन है बिजली है नीरद-माला;
> पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला!—प्रसाद

सर्ववाद के निकट कोई वस्तु अपने आप में न बड़ी है न छोटी, न लघु है न गुरु। जैसे अंगों की अनुभूति के साथ शरीर की अखंडता का बोध रहता है और

शरीर की अनुभूति के साथ अगो की विभिन्नता का ज्ञान, वैसे ही सर्ववाद में विविधता स्वत पूर्ण रूप और सापेक्ष स्थिति रखती है। अत छायावाद का कवि न प्रकृति के किसी रूप को लघु या निरपेक्ष मानता है न अपने जीवन को, क्योकि वे दोनो ही एक विराट रूप-समष्टि मे स्थिति रखत है, और एक व्यापक जीवन से स्पदन पाते हैं। जीवन के रूप-दर्शन के लिए प्रकृति अपना अक्षय सौंदर्य-कोष खोल देती है और प्रकृति के प्राण परिचय के लिए जीवन अपना रगमय भावाकाश दे डालता है।

एक था आकाश वर्षा का सजल उद्दाम
दूसरा रजित किरण से श्री-कलित घनश्याम,
चल रहा था विजन पथ पर मधुर जीवन-खेल,
दो अपरिचित से नियति अब चाहती थी मेल! —प्रसाद

ढुलकते हिम जल से लोचन
अधखिला तन अखिला-मन
धूलि से भरा स्वभाव-दुकूल
मृदुल-छवि पृथुल सरलपन,
स्वविस्मित से गुलाब के फूल
तुम्ही सा था मेरा बचपन! —पत

आदि मे सजल आकाश और किरण-रजित मेघ से मनु और श्रद्धा के जीवन का जो परिचय प्राप्त होता है, गुलाब के विस्मित जैसे अधखिले फूल और मनुष्य के शैशव का जो एक चित्र मिलता है, वह अपनी परिधि मे प्रकृति और जीवन का रूप-दर्शन ही नही स्पदन भी घेरना चाहता है, अत भाव-चित्र ही रूप-गीत हो जाता है।

छायायुग के यथार्थ चित्र भी इसी तूलिका से अकित हुए हैं, इसी से उनमे एक प्रकार की सूक्ष्मता आ जाना स्वाभाविक है।

"वह क्रूर काल-ताडव की स्मृति रेखा सी' मे विधवा की दीप्त करुणा, 'चरा, आ रहा मौन धैर्य सा' मे मनु के पुत्र का सशक्त व्यक्तित्व, 'वह जलधर जिसमे चपला या श्यामला का नाम नहीं' मे श्रम की व्यथा जनित जडता आदि, इसी प्रवृत्ति का परिचय देते हैं।

प्रकृति और जीवन के तादात्म्य के कारण छायावाद के प्रेम-गीतो के भाव मे 'सग में पावन गगा-स्नान' की पवित्रता और रूप मे 'गूढ रहस्य बना साकार' की व्यापकता आ गई।

नारी का चित्र मानो स्वय प्रकृति का चित्र है—

वह विश्व-मुकुट सा उज्ज्वलतम शशिखड सदृश सा स्पष्ट भाल,
दो पद्म-पलाश-चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल,

चरणों में थी गतिभरी ताल ! —प्रसाद

तुम्हीं हो स्पृहा अश्रु औ, हास

सृष्टि के उर की साँस;—पंत

वह कामायनी जगत की

मंगलकामना अकेली ! —प्रसाद

में जो मंगलमयी शक्ति है, उसके सौंदर्य के प्रति भी कवि सजग है—

स्मित मधुराका थी, श्वासों में

पारिजात-कानन खिलता;

और इस सौंदर्य को संकीर्ण बना लेने की प्रवृत्ति का भी उसे ज्ञान है—

पर तुमने तो पाया सदैव उसकी सुंदर जड़ देह मात्र,

सौंदर्य-जलधि से भर लाए केवल तुम अपना गरल-पात्र !

इस विकृति के कारण की ओर संकेत भी स्वाभाविक है—

तुम भूल गए पुरुषत्वमोह में कुछ सत्ता है नारी की ! —प्रसाद

छाया-युग के भागवत सर्ववाद ने नारी-सौंदर्य के प्रति कवि की दृष्टि में वही पवित्र विस्मय और उल्लास भर दिया था जिससे

सजल शिशिर-धौत पुष्प

देखता है एकटक किरण कुमारी को ! —निराला

तत्कालीन राष्ट्रीय जागरण भी इस प्रवृत्ति के उत्तरोत्तर विकास में सहायक हुआ; क्योंकि उस जागृति के सूत्रधार व्यावहारिक धरातल पर ही नहीं जीवन की सूक्ष्म व्यापकता में भी नारी के महत्त्व का पता पा चुके थे। दीर्घकालीन जड़ता के उपरांत भी जब वह मुक्ति के आह्वान मात्र पर अशेष रक्त तोल देने के लिए आ खड़ी हुई, तब राजनीति, समाज, काव्य सभी ने उसे विस्मय से देखा।

काव्य में उसका ऐसा भागवत चित्रण कहां तक उपयुक्त था, यह प्रश्न भी संभव है।

नारी की सामाजिक स्थिति के संबंध में, उस समय तक बहुत से आंदोलन चल चुके थे, उसके जीवन की कठोर सीमा-रेखाओं को कोमल करने के लिए भी प्रयत्न हो रहे थे। अपने विशेष दृष्टिकोण और समय से प्रभावित कवियों ने उसे अपने भावजगत् में जैसी मुक्ति दी, उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी विशेष ध्यान देने योग्य है। किसी को बहुत संकीर्ण बनाकर देखते-देखते वह संकीर्ण हो जाता है तथा किसी को एक विशाल पृष्ठभूमि पर रखकर देखना, उसे कुछ विशाल बनने की प्रेरणा देता है। सौंदर्य की स्थूल जड़ता से मुक्ति मिलते ही नारी को प्रकृति के समान ही रहस्यमय शक्ति और सौंदर्य प्राप्त हो गया, जिसने उसके मानसिक जगत् से पिछली संकीर्णता धो डाली।

कवि के लिए यह प्रवृत्ति कहा तक स्वाभाविक थी, इसे प्रमाणित करने के लिए हमारे पास कला और सस्कृति का बहुत विकसित और अटूट क्रम है। यदि आदिम सघर्ष काल में भी पुरुष अपने पार्श्व मे खडी नारी की रूपरेखा प्रकृति मे देख सका और तब भी जीवन के व्यावहारिक धरातल पर ठहरने मे समर्थ हो सका, तो निश्चय ही यह प्रवृत्ति आज कोई ऐसा अपकार न करेगी। सारत यह दृष्टि इतनी भारतीय रही कि जीवन मे अनेक बार परीक्षित हो चुकी है। इसके अभाव मे नारी को केवल विलास का साधन बनकर जीना पडा, पर इस प्रवृत्ति के साथ उसके जीवन को विशेष शक्ति और व्यापकता मिल सकी। छाया-युग की नारी चाहे अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए विशेष सुविधाए न प्राप्त कर सकी हो, पर उसकी शक्ति ने पुरुष की वासना-व्यवसायी दृष्टि को एक दीर्घ-काल तक जहा का तहा ठहरा दिया—इसी से आज का क्षुत्क्षामयथार्थवादी पुरुष उस पर आघात किये बिना एक पग बढ़ने का भी अवकाश नही पाता।

इसके अतिरिक्त कलाकार के लिए सौंदर्य मे ही रहस्य की अनुभूति सहज है, अत वह सौदर्य को इतिवृत्त बनाकर कहने का प्रयास नही करता। विशेषत उस युग के कलाकार के लिए यह और भी कठिन है, जब वाह्य विषमताए पार कर आंतरिक एकता स्पष्ट करना ही लक्ष्य रहे। जिन कारणो से कवि ने प्रकृति और जीवन के यथार्थ को कठिन रेखाओ से मुक्त करके, उसमे सामजस्य की खोज की, उसी कारण से वह नारी को भी कठोर यथार्थ मे बाधकर काव्य मे स्थापित न कर सका।

स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति हमारे लिए नवीन नही, क्योकि हमारे काव्य का एक महत्त्वपूर्ण अश ऐसी अभिव्यक्तियो पर आश्रित है। वेदगीतो की एक बहुत बडी सख्या आत्मबोध और स्वानुभूति उल्लास-विषाद को स्वीकृति देती है। सस्कृत और प्राकृत काव्यों मे वे रचनाए अशेष माधुर्यभरी हैं, जिनमे दृश्य चित्रो के सहारे मनोभाव ही व्यक्त किये गये हैं। निर्गुण काव्य मे आदि से अत तक, स्वानुभूति मिलन-विरह ही प्रेरक शक्ति है। सगुण-भक्तो के गीति-काव्य मे सुख-दुख, सयोग-वियोग, आशा-निराशा आदि ने जो मर्मस्पर्शिता पाई है, उसका श्रेय स्वानुभूति को ही दिया जाएगा। सब प्रकार की अलका-रिता से शून्य सरल लोकगीतो मे जो अतरतम तक प्रवेश कर जाने वाली भाव-तीव्रता है, वह भी स्वानुभूतिमयी ही मिलेगी।

इस प्रकार की अभिव्यक्तियो मे भाव रूप चाहता है, अत शैली का कुछ सकेतमयी हो जाना सहज सभव है। इसके अतिरिक्त हमारे यहा तत्त्वचिंतन का बहुत विकास हो जाने के कारण जीवन-रहस्यो को स्पष्ट करने के लिए एक सकेतात्मक शैली बहुत पहले बन चुकी थी। अरूप दर्शन से लेकर रूपात्मक काव्यकला तक सबने ऐसी शैली का प्रयोग किया है, जो परिचित के माध्यम से

अपरिचित और स्थूल के माध्यम से सूक्ष्म तक पहुंच सकें।

अवश्य ही दर्शन और काव्य की शैलियों में अंतर है, परंतु यह अंतर रूपगत है तत्त्वगत नहीं; इसी से एक जीवन के रहस्य का मूल और दूसरी शाखा-पल्लव-फूल खोजती रही है।

कल्पना के संबंध में यह स्मरण रखना उचित है कि वह स्वप्न से अधिक ठोस धरती चाहती है। प्रायः परिचित और प्रिय वस्तुओं से संबंध रखने के कारण उसका विदेशीय होना सहज नहीं। विशेषतः प्रत्येक कवि और कलाकार अपने संस्कार, जीवन तथा वातावरण के प्रति इतना सजग संवेदनशील होता है कि उसकी कल्पना, उसके ज्ञान और अनुभूतियों की चित्रमय व्याख्या बन जाती है।

प्रकृति के सौंदर्य और पृथ्वी के ऐश्वर्य ने भारतीय कल्पना को जिन सुनहले-रुपहले रंगों से रंग दिया था, वे तब से आज तक धुल नहीं सके। सभ्यता के आदिकाल में ही यहां के तत्त्वदर्शक के विचार और अनुभूतियों में कितने चटकीले रंग उतर आये थे, इसका प्रमाण तत्कालीन काव्यगत कल्पनाएं देती हैं।

परमतत्त्व हरण्यगर्भ है, समुद्र रत्नाकर है, सूर्य दिन का मणि है, अग्नि हरण्यकेश है, पृथ्वी रत्नप्रसू, हिरण्यगर्भा, वसुंधरा आदि संज्ञाओं में जगमगाती है। भाषा का संपूर्ण कोष स्वर्ण रजत के रंगों से उद्भासित और असंख्य रूपों से समृद्ध है।

इस समृद्धि का श्रेय यहीं की धरती को दिया जा सकता है। उत्तरी ध्रुव के जमे हुए समुद्र को कोई रत्नाकर की संज्ञा देने की भूल नहीं करेगा, बर्फीली ठंडी धरती को कोई वसुधरा कहकर पुलकित न होगा।

इन समृद्ध और विविध कल्पनाओं का क्रम अटूट रहा है। जब तपोवन-वासी आदि कवि 'शालय कनकप्रभा' कहकर धान की बाली का परिचय देता है, तब कालिदास जैसे कवियों की समृद्ध कल्पना के संबंध में कुछ कहना व्यर्थ है। जब निर्गुण का उपासक फकीर 'रवि ससि नखत दिपें ओहि जोती, रतन पदारथ मानिक मोती।' कहकर अपने अरूप का ऐश्वर्य प्रकट करता है, तब सगुण-भक्तों की कल्पना के वैभव का अनुमान सहज है।

कल्पना का ऐश्वर्य लोकगीतों में भी ऐसा ही निरंतर क्रम रखता है। सुदूर अतीत के कवि ने आंसू को मोती के समान माना है, पर आज की ग्रामीण माता भी गाती है, 'मोती ढरकें जब लालन रोवें फुलझरियन जैसी किल-कनियां।' मोती ढुलकते हैं जब उसका शिशु रोता है और फुलझड़ियों जैसी उसकी किलकारियां हैं। कोई ऐसा जीवन-गीत नहीं जिसमें ग्रामवधू सोने के थाल में भोजन परोसकर और सोने की झारी में गंगाजल भरकर अपने पति का

सस्कार नही करती। इन कल्पनाओ के पीछे जो सस्कार हैं, वे किसी प्रकार भी विदेशीय नही।

आज दरिद्रता हमे अपनी धरती या प्रकृति से नही मिली, हमारी दुर्बलता का अभिशाप है, अत काव्य जब प्रकृति का आधार लेकर चलता है, तब कल्पना मे सूक्ष्म रेखाओ का बाहुल्य और दीप्त रगो का फैलाव स्वाभाविक ही रहेगा।

छायावाद तत्वत प्रकृति के बीच मे जीवन का उद्गीथ है, अत कल्पनाए बहुरगी और विविधरूपी हैं। पर वैभव की दृष्टि से वह आज के यथार्थ के कितने निकट है, यह तब प्रकट होता है जब छायायुग का स्वप्नद्रष्टा गाता है—

प्राची मे फैला मधुर राग
जिसके मडल मे एक कमल खिल उठा सुनहला भर पराग।
—कामायनी

और यथार्थ का नया उपासक कहता है—

मरकत-डिब्बे सा खुला ग्राम
जिस पर नीलम नभ आच्छादन।
—ग्राम्या

छायावाद को दुखवाद का पर्याय समझ लेना भी सहज हो गया है। जहा तक दुख का सबध है, उसके दो रूप हो सकते हैं—एक जीवन की विषमता की अनुभूति मे उत्पन्न करुणभाव, दूसरा जीवन के स्थूल धरातल पर व्यक्तिगत असफलताओ से उत्पन्न विषाद।

करुणा हमारे जीवन और काव्य से बहुत गहरा सबध रखती है। वैदिक काल ही मे एक ओर आनद-उल्लास की उपासना होती थी और दूसरी ओर इस प्रवृत्ति के विरुद्ध एक करुण-भाव भी विकास पा रहा था। एक ओर यज्ञ सबधी पशुबलि प्रचलित थी और दूसरी ओर 'मा हिंस्यात सर्वभूतानि' का प्रचार हो रहा था। इस प्रवृत्ति ने आगे विकास पाकर जैन धर्म के मूल सिद्धातो को रूप-रेखा दी। बुद्ध द्वारा स्थापित ससार का सबसे बड़ा करुणा का धर्म भी इसी प्रवृत्ति का परिष्कृत फल कहा जाएगा।

काव्य ने भी करुणा को विशेष महत्त्व दिया। हमारे दो महान् काव्यो मे से एक को करुण-भाव से ही प्रेरणा मिली है और दूसरा अपने सघर्ष के अत मे करुण-भाव ही मे चरम परिणति पा लेता है। सस्कृत के उत्कृष्ट काव्यो मे भी कवि अपने इस सस्कार को नही छोडता। भवभूति तो करुणा के अतिरिक्त कोई रस ही नही मानता और कालिदास के काव्यो मे करुणा श्वासोच्छ्वास के समान मिली हुई है। अग्निवर्ण के दुखद अत में समाप्त होने वाला रघुवश, जीवन के सब उल्लास-उमगो को राख पर दुष्यत से साक्षात् करने वाली

शकुंतला, यदि करुण-भाव न जगा सके तो आश्चर्य है।

हमारे इस करुण-भाव के भी कारण हैं। जहां भी चिंतन-प्रणाली इतनी विकसित और जीवन की एकता का भाव इतना सामान्य होगा, वहां इस प्रकार का करुण-भाव अनायास और स्वाभाविक स्थिति पा लेता है। 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' की धारणा जब जीवन पर व्यापक प्रभाव डाल चुकी, तब उसका बाह्य अंतर, पग-पग पर असंतोष को जन्म देता रहेगा।

परमतत्त्व की व्यापकता और इष्ट की पूर्णता के साथ अपनी सीमा और अपूर्णता की अनुभूति ही, निर्गुण-सगुणवादियों के विरह की तीव्रता का कारण है। यह प्रवृत्ति भी मूलतः करुणा से सबद्ध होगी।

करुणा का रंग ऐसा है, जो जीवन की बाह्य रेखाओं को एक कोमल दीप्ति दे देता है; संभवतः इसी कारण लौकिक काव्य भी विप्रलंभ शृंगार को बहुत महत्त्व और विस्तार देते रहे हैं। जब यह करुण भावना व्यक्तिगत सुख-दुःख के साथ मिल जाती है, तब उन दोनों के बीच में विभाजन के लिए बहुत सूक्ष्म रेखा रहती है।

भारतेंदु युग में हम एक व्यापक करुणा की छाया के नीचे देश की दुर्दशा के चित्र बनते-बिगड़ते देखते हैं। पौराणिक चरित्रों की खोज करुण-भावना की सामान्यता के लिए होती है और देश, समाज आदि का यथार्थ चित्रण व्यक्तिगत विषाद को विस्तार देता है। खड़ी बोली के कवि संस्कृत काव्य-साहित्य के और अधिक निकट पहुंच जाते हैं। 'प्रिय-प्रवास' की राधा और 'साकेत' की उर्मिला का, नये वातावरण में पुनर्जन्म उसी सनातन करुणा की प्रेरणा है और राष्ट्र-गीतों और सामाजिक चित्रण में व्यक्तिगत विषाद को समष्टिगत अभिव्यक्ति मिली है।

छायायुग का काव्य स्वानुभूतिमयी रचनाओं पर आश्रित है, अतः व्यापक करुण-भाव और व्यक्तिगत विषाद के बीच की रेखा और भी अस्पष्ट हो जाती है। गीत में गाया हुआ पराया दुःख भी अपना हो जाता है और अपना भी सबका, इसी से व्यक्तिगत हार से उत्पन्न व्यथा एक समष्टिगत करुण-भाव में एकरस जान पड़ती है।

इस व्यक्ति-प्रधान युग में व्यक्तिगत सुख-दुःख अपनी अभिव्यक्ति के लिए आकुल थे, अतः छायायुग का काव्य स्वानुभूति-प्रधान होने के कारण वैयक्तिक उल्लास-विषाद की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम न बन सका।

समष्टिगत जीवन की बाह्य विकृति और आंतरिक विषमता की अनुभूति से उत्पन्न करुण-भाव जो रूप पा सकता था, वह भी गायक से भिन्न कोई स्थिति नहीं रखता था। वर्णनात्मक काव्यों में जो प्रवृत्ति कवि की सूक्ष्म दृष्टि और उसके हृदय की संवेदनशीलता को व्यक्त करती, वह स्वानुभूतिमयी रचनाओं में,

उसका वैयक्तिक विषाद बनकर उपस्थित हो सकी। अतः इस विषाद के विस्तार में दूसरे केवल उसी का हाहाकार और उसे प्रेरणा देने वाली मानसिक स्थिति खोज-खोजकर थकने लगे।

'कामायनी' मे बुद्धि और हृदय के समन्वय के द्वारा जीवन मे सामजस्य लाने का जो चित्र है, वह कवि का स्वभावगत सस्कार है, क्षणिक उत्तेजना नही। इस सामजस्य का सकेत सब प्रतिनिधि रचनाओ मे मिलेगा।

करुण-भाव के प्रति कवियो का झुकाव भारतीय सस्कार के कारण है, पर उसे और अधिक बल सामयिक परिस्थितियो से मिल सका।

कौन प्रकृति के करुण काव्य सा
वृक्ष पत्र की मधुछाया मे,
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है
अमृत सदृश नश्वर काया मे ?
जिससे कन-कन मे स्पदन हो,
मन मे मलयानिल चदन हो,
करुणा का नव अभिनदन हो,
वह जीवन-गीत सुना जा रे !

—प्रसाद

विश्व-वाणी ही है क्रदन
विश्व का काव्य अश्रु-कन ।
वेदना ही के सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व इसका परमपद
वेदना ही का मनोहर रूप है।

—पंत

मेरा आकुल क्रदन
व्याकुल वह स्वर-सरित-हिलोर,
वायु मे भरती करुण मरोर
बढ़ती है तेरी ओर;
मेरे ही क्रदन से उमड रहा यह तेरा सागर सदा अधीर !

—निराला

इस विषाद मे व्यक्तिगत दुखो का प्रकटीकरण न होकर उस शाश्वत करुणा की ओर सकेत है; जो जीवन को सब ओर से स्पर्श कर एक स्निग्ध उज्ज्वलता देती है।

भारतीय दर्शन, काव्य आदि ने इस तरल सामजस्य-भाव को भिन्न-भिन्न मार्गों से स्मरण किया है, पर वे इसे पूर्णत भूल नहीं सके।

व्यक्तिगत सुख-दुःख की अभिव्यक्तियां भी मार्मिक हो सकी, पर वे छाया-युग के सर्ववाद से इस प्रकार प्रभावित हैं कि उन्हें स्वतंत्र अस्तित्व मिलना कठिन हो गया।

व्यापक चेतना से व्यष्टिगत चेतना की एकता के भावन ने पुरानी रहस्य-प्रवृत्ति को नया रूप दिया। धर्म और समाज के क्षेत्र में विधि-विधान इतने कृत्रिम हो चुके थे कि जीवन उनसे विरक्त होने लगा। अपने व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक प्रभाव के कारण कवि के लिए, रहस्य संबंधी साधना-पद्धति को अपनाना सहज नही था; पर सामंजस्य की भावना और जीवनगत अपूर्णता की अनुभूति ने उसके काव्य पर करुणा का ऐसा अंतरिक्ष बुन दिया, जिसकी छाया मे दु.ख ही नही सुख के भी सब रंग बनते-मिटते रहे।

राष्ट्र की विषम परिस्थितियों ने भी छायायुग की करुणा मे एक रहस्य-मयी स्थिति पाई। जैसे परम तत्त्व से तादात्म्य के लिए विकल आत्मा का क्रदन व्यापक है, वैसे ही राष्ट्र-तत्त्व की मुक्ति मे अपनी मुक्ति चाहने वाली राष्ट्रात्मा का विषाद भी विस्तृत है।

किसी भी युग में एक प्रवृत्ति के प्रधान होने पर दूसरी प्रवृत्तियां नष्ट नही हो जाती, गौण रूप से विकास पाती रहती हैं। छायायुग में भी यथार्थवाद, निराशावाद और सुखवाद की बहुत-सी प्रवृत्तियां अप्रधान रूप से अपना अस्तित्व बनाये रह सकी, जिनमे से अनेक अब अधिक स्पष्ट रूप मे अपना परिचय दे रही हैं। स्वयं छायावाद तो करुणा की छाया मे सौंदर्य के माध्यम से व्यक्त होने वाला भावात्मक सर्ववाद ही रहा है और उसी रूप में उसकी उपयोगिता है। इस रूप मे उसका किसी विचारधारा या भावधारा से विरोध नही, वरन् आभार ही अधिक है, क्योंकि भाषा, छद, कथन की विशेष शैली आदि की दृष्टि से उसने अपने प्रयोगो का फल ही आज के यथार्थवाद को सौंपा है।

इस आदान से तो यथार्थोन्मुखी विचारधारा का असहयोग नही, वह केवल उसकी आत्मा के उस अक्षय सौंदर्य पर आघात करना चाहती है, जो इस देश की सांस्कृतिक परपरा की धरोहर है। जब तक इस आकाश मे अनत रग हैं, इस पृथ्वी पर अनत सौंदर्य है, जब तक यहां की ग्रामीणा कोकिला-काग से सदेश भेजना नही भूलती, किसान चैती चादनी और आकाश की घटाओ को मूर्तिमत्ता देना नहीं छोडता, तब तक काव्य मे भी यह प्रवृत्ति रहेगी। छायावाद का भविष्य केवल यथार्थ के हाथ मे भी नही, क्योंकि वह इस धरती और आकाश से बधा है।

सास्कृतिक विकास की दृष्टि से हमारे यहा का घोर अशिक्षित भी विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि दर्शन जैसे गूढ विषय से लेकर श्रम, जैसे सरल विषय तक उसकी अच्छी पहुंच है। हमारे सांस्कृतिक मूल्यो के पीछे कई हजार वर्ष

का इतिहास है, अत इस मिट्टी के सब अणु उसका स्पर्श कर चुके हों तो आश्चर्य नहीं।

पुरातन सांस्कृतिक मूल्यों के संबंध में यदि आज का यथार्थवादी इस युग के सबसे पूर्ण और कर्मठ यथार्थदर्शी लेनिन के शब्दों को स्मरण रख सके, तो संभवत वह यथार्थ का भी उपकार करेगा और अपना भी—

'We must retain the beautiful, take as it an example, hold on to it even though it is old Why turn away from real beauty, and discard it for good and all as a starting point for further development just because it is old ? Why worship the new as the god to be obeyed just because it is the new ? That is nonsense, sheer nonsense There is a great deal of conventional art hypocrisy in it too and respect for the art fashions of the west.'

(Lenin—the man)

(हमें, जो सुंदर है उसे ग्रहण करना, आदर्श के रूप में स्वीकार करना और सुरक्षित रखना चाहिए, चाहे वह पुराना हो। केवल पुरातन होने के कारण वास्तविक सौंदर्य में विरक्ति क्यों और नवीन के विकास के लिए उस सदा को त्याग देना अनिवार्य क्यों ? जिसका अनुशासन मानना ही होगा, ऐसे देवता के समान नवीनता की पूजा किसलिए ? यह तो अर्थहीन है—नितांत अर्थहीन। इस प्रवृत्ति में कला की रूढ़िगत कृत्रिमता और पश्चिम की कला रूढ़ियों के प्रति सम्मान का भाव ही अधिक है।)

आधुनिक युग का सबसे समर्थ कर्मनिष्ठ अध्यात्मद्रष्टा भी अपनी संस्कृति को महत्त्व देकर उसी वास्तविक सौंदर्य की ओर संकेत करता है—

'मेरा तो निश्चित मत है कि दुनिया में किसी संस्कृति का [illegible] इतना भरा-पूरा नहीं, जितना हमारी संस्कृति का। इस देश की [illegible] में अनेक संस्कृति रूपी सहायक नदियाँ आकर मिली हैं। इस [illegible] हमारे लिए हो सकता है तो यही कि हम सारी दुनिया को [illegible]। [illegible] जड़ दीवारों से विभक्त नहीं किया जा सकता। समस्त [illegible] के विकास का आविर्भाव है। हमारी अंतःस्थ सुप्त भावनाओं को [illegible] का सामर्थ्य जिसमें होता है वह कवि है। अपनी अपूर्णता महसूस करना, [illegible] का पहला कदम है।'

—महात्मा [illegible]

हम आँधी-तूफान के ऐसे ध्वंसमय युग के बीच से [illegible] पर जीवन के सर्वतोन्मुख निर्माण का कार्य [illegible]

उठेगा। निर्माण के संबंध मे यह स्मरण रखना आवश्यक है कि हम जीवन की मूल प्रवृत्तियों के स्रष्टा नही बन सकते, केवल नवीन परिस्थितियों में उनका समुचित उपयोग ही हमारा सृजन कहा जाएगा। करुणा, प्रेम, द्वेष, क्रोध आदि मूल भावों पर सभी मनुष्यों का जन्माधिकार है, पर इन मूल भावों का विकास मानव ही नही, उसे घेरने वाले वातावरण पर भी निर्भर रहता है। इसी कारण किसी मनुष्य-समूह में चिंतनशीलता का आधिक्य मिलेगा, किसी मे युद्ध-प्रेम ही प्रधान जान पड़ेगा, किसी मे व्यवसाय-कौशल की ही विशेषता रहेगी और किसी मे भावुक कलाकार ही सुलभ होगे। बाह्य परिस्थितियों के कारण बहुत-सी स्वस्थ प्रवृत्तिया दब जाती हैं, बहुत-सी अस्वस्थ, प्रधानता पाने लगती हैं। जीवनव्यापी निर्माण के लिए इन्ही प्रवृत्तियो की निष्पक्ष परीक्षा और उनका स्वस्थ उपयोग अपेक्षित रहेगा और इस कार्य के लिए ऐसे व्यक्ति अधिक उपयोगी सिद्ध होगे, जो संपूर्ण अतीत को विक्षिप्तो की क्रियाशीलता कहकर छुट्टी नही पा लेते।

साहित्य, काव्य, कला आदि केवल मूल प्रवृत्तियों के विविध परिष्कार-क्रम के इतिहास हैं, अतः कलाकार इन प्रवृत्तियो को अपने युगविशेष की संपत्ति समझकर और अतीत के सारे सांस्कृतिक और साहित्यिक मूल्यों को भूलकर लक्ष्य तक नही पहुंच पाता।

पिछले अनेक वर्षों की विषम परिस्थितियो ने हमारे जीवन को छिन्न-भिन्न कर डाला है। कलाकार यदि उस विभाजन को और छोटे-छोटे खंडो मे विभाजित करता रहे, तो वह जीवन के लिए एक नया अभिशाप सिद्ध होगा। उसे सामंजस्य की ओर चलना है, अत. जीवन की मूल प्रवृत्तियां, उनका सांस्कृतिक मूल्य, उन मूल्यो का, आज की परिस्थिति में उपयोग आदि का ज्ञान न रहने पर उसकी यात्रा भटकना मात्र भी हो सकती है।

केवल पुरातन या नवीन होने से कोई काव्य उत्कृष्ट या साधारण नही हो सकेगा, इसी से कवि-गुरु कालिदास को कहना पड़ा—

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।

अतीत और वर्तमान के आदान-प्रदान के संबंध मे छायायुग के प्रतिनिधि कवि की इस उक्ति मे सरल सौंदर्य ही नही मार्मिक सत्य भी है—

शिशु पाते हैं माताओं के
वक्ष स्थल पर भूला गान,
माताएँ भी पाती शिशु के
अधरो पर अपनी मुस्कान!

—निराला △

प्रेम-संबंध के कारण, वैष्णव युग के उच्चतम कोटि तक पहुंचे हुए प्रणय-निवेदन से भिन्न नही।

आज गीत में जिसे हम रहस्यवाद के रूप मे ग्रहण कर रहे हैं, वह इन सब की विशेषताओ से युक्त होने पर भी उन सबसे भिन्न है। उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदांत के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य-भाव-सूत्र मे बांधकर एक निराले स्नेह-संबंध की सृष्टि कर डाली, जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलंबन दे सका, उसे पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका। इसमें संदेह नही कि इस वाद ने रूढ़ि बनकर बहुतो को भ्रम मे भी डाल दिया है, परंतु जिन इने-गिने व्यक्तियो ने इसे वास्तव मे समझा, उन्हें इस नीहार लोक मे भी गंतव्य मार्ग स्पष्ट दिखाई दे सका। इस काव्य-धारा की अपार्थिव पार्थिवता और साधना-न्यूनता ने सहज ही सबको अपनी ओर आकर्षित कर लिया है, अतः यदि इसका रूप कुछ विकृत होता जा रहा है तो आश्चर्य की बात नही। हम यह समझ नही सके हैं कि रहस्यवाद आत्मा का गुण है, काव्य का नही।

यह युग पाश्चात्य साहित्य और बंगाल की नवीन काव्यधारा से परिचित तो था ही, साथ ही उसके सामने रहस्यवाद की भारतीय परंपरा भी रही।

जो रहस्यानुभूति हमारे ज्ञान-क्षेत्र मे एक सिद्धांतमात्र थी, वही हृदय की कोमलतम भावनाओ मे प्राण-प्रतिष्ठा पाकर तथा प्रेममार्गी सूफी संतों के प्रेम मे अतिरंजित होकर, ऐसे कलात्मक रूप में अवतीर्ण हुई, जिसने मनुष्य के हृदय और बुद्धिपक्ष दोनो को संतुष्ट कर दिया। एक ओर कबीर के हठयोग की साधना-रूपी सम-विषम शिलाओ से बंधा हुआ और दूसरी ओर जायसी के विशद प्रेम-विरह की कोमलतम अनुभूतियों की वेला में उन्मुक्त, यह रहस्य का समुद्र आधुनिक युग को क्या दे सका है, यह अभी कहना कठिन होगा। इतना निश्चित है कि इस वस्तुवाद-प्रधान युग में भी वह अनादृत नहीं हुआ, चाहे इसका कारण मनुष्य की रहस्योन्मुख प्रवृत्ति हो और चाहे उसकी लौकिक रूपकों में सुंदरतम अभिव्यक्ति।

इस बुद्धिवाद के युग मे मनुष्य, भावपक्ष की सहायता से अपने जीवन को कसने के लिए कोमल कसौटियां क्यो प्रस्तुत करे, भावना की साकारता के लिए अध्यात्म की पीठिका क्यो खोजता फिरे और परोक्ष अध्यात्म को प्रत्यक्ष जगत में क्यों प्रतिष्ठित करे, यह सभी प्रश्न सामयिक हैं, पर इनका उत्तर केवल बुद्धि से दिया जा सकेगा, ऐसा संभव नही जान पड़ता, क्योंकि बुद्धि का प्रत्येक समाधान अपने साथ प्रश्नो की बड़ी संख्या उत्पन्न कर लेता है।

साधारणत अन्य व्यक्तियो के समान ही कवि की स्थिति भी प्रत्यक्ष जगत् की व्यष्टि और समष्टि दोनो ही मे है। एक मे वह अपनी इकाई मे पूर्ण है और दूसरी मे वह अपनी इकाई से बाह्य जगत् की इकाई को पूर्ण करता है। उसके अतर्जगत् का विकास ऐसा होना आवश्यक है, जो उसके व्यष्टिगत जीवन का विकास और परिष्कार करता हुआ, समष्टिगत जीवन मे साथ उसका सामजस्य स्थापित कर दे। मनुष्य के पास इसके लिए केवल दो ही उपाय हैं, बुद्धि का विकास और भावना का परिष्कार। परतु केवल बौद्धिक निरूपण जीवन के मूल तत्त्वो की व्याख्या कर सकता है, उनका परिष्कार नही, जो जीवन के सर्वतोन्मुखी विकास के लिए अपेक्षित है और केवल भावना जीवन को गति दे सकती है, दिशा नही।

भावातिरेक को हम अपनी क्रियाशीलता का एक विशिष्ट रूपातर मान सकते हैं, जो एक ही क्षण मे हमारे सपूर्ण अतर्जगत् को स्पर्श कर बाह्य जगत् मे अपनी अभिव्यक्ति के लिए अस्थिर हो उठती है, पर बुद्धि के दिशा-निर्देश के अभाव मे, इस भावप्रवेग के लिए अपनी व्यापकता की सीमाए खोज लेना कठिन हो जाता है, अत दोनो का उचित मात्रा मे सतुलन ही अपेक्षित रहेगा।

कवि ही नही, प्रत्येक कलाकार को अपने व्यष्टिगत जीवन को गहराई और समष्टिगत चेतना को विस्तार देने वाली अनुभूतियो को, भावना के साचे में ढालना पडा है। हमे निष्क्रिय बुद्धिवाद और स्पदनहीन वस्तुवाद के लबे पथ को पार कर, कदाचित् फिर चिर सवेदन रूप सक्रिय भावना मे जीवन के परमाणु खोजने होंगे, ऐसी मेरी व्यक्तिगत धारणा है।

कविता के लिए आध्यात्मिक पृष्ठभूमि उचित है या नही, इसका निर्णय व्यक्तिगत चेतना ही कर सकेगी। जो कुछ स्थूल, व्यक्त, प्रत्यक्ष और यथार्थ नही है, यदि केवल वही अध्यात्म से अभिप्रेत है, तो हमे वह सौंदर्य, शील, शक्ति, प्रेम आदि की सभी सूक्ष्म भावनाओ मे फैला हुआ, अनेक अव्यक्त सत्य सबधी धारणाओ मे अकुरित, इद्रियानुभूति प्रत्यक्ष की अपूर्णता से उत्पन्न उसी की परोक्ष रूप-भावना मे छिपा हुआ और अपनी ऊर्ध्वगामी वृत्तियो से निर्मित विश्वबधुता, मानवधर्म आदि के ऊचे आदर्शों मे अनुप्राणित मिलेगा। यदि परपरागत धार्मिक रूढ़ियो को हम अध्यात्म की सज्ञा देते हैं, तो उस रूप मे काव्य मे उसका महत्त्व नही रहता। इस कथन मे अध्यात्म को बलात् लोक-सग्रही रूप देने का या अस्वीकार करने का कोई आग्रह नहीं है। अवश्य ही वह अपने ऐकातिक रूप मे भी सफल है, परतु इस अरूप रूप की अभिव्यक्ति लौकिक रूपकों मे ही तो सभव होगी।

जायसी की परोक्षानुभूति चाहे जितनी ऐकातिक रही हो, परन्तु उनकी मिलन विरह की मधुर और मर्मस्पर्शिनी अभिव्यजना क्या किसी लोकोत्तर

लोक से रूपक लायी थी ? हम चाहे आध्यात्मिक संकेतों से अपरिचित हों, परंतु उनकी लौकिक कला-रूप सप्राणता से हमारा पूर्ण परिचय है। कबीर की क्रांतिक रहस्यानुभूति के संबंध मे भी यही सत्य है।

वास्तव में लोक के विविध रूपों की एकता पर स्थित अनुभूतियां लोक-विरोधिनी नही होती; परंतु ऐकांतिक रूप के कारण अपनी व्यापकता के लिए, वे व्यक्ति की कलात्मक संवेदनीयता पर अधिक आश्रित हैं। यदि ये अनुभूतियां हमारे ज्ञान-क्षेत्र मे कुछ दार्शनिक सिद्धांतो के रूप में परिवर्तित न हो जावें, अध्यात्म की सूक्ष्म से स्थूल होती चलने वाली पृष्ठभूमि पर धारणाओं की रूढि मात्र न बन जावें तो भावपक्ष मे प्रस्फुटित होकर जीवन और काव्य दोनो को एक परिष्कृत और अभिनव रूप देती है।

हमारी अंत:शक्ति भी एक रहस्य से पूर्ण है और बाह्य जगत् का विकास-क्रम भी, अत: जीवन में ऐसे अनेक क्षण आते रहते हैं, जिनमे हम इस रहस्य के प्रति जागरूक हो जाते है। इस रहस्य का आभास या अनुभूति मनुष्य के लिए स्वाभाविक रही है, अन्यथा हम सभी देशो के समृद्ध काव्य-साहित्य में किसी न किसी रूप मे इस रहस्यभावना का परिचय न पाते। न वही काव्य हेय है, जो अपनी साकारता के लिए केवल स्थूल और व्यक्त जगत् पर आश्रित है और न वही, जो अपनी सप्राणता के लिए रहस्यानुभूति पर। वास्तव मे दोनो ही मनुष्य के मानसिक जगत् की मूर्त्त और बाह्य जगत् की अमूर्त्त भावनाओं की कलात्मक समष्टि हैं। जब कोई कविता काव्यकला की सर्वमान्य कसौटी पर नही कसी जा सकती, तब उसका कारण विषय विशेष न होकर कवि और असमर्थता ही रहती है।

हमारे मूर्त्त और अमूर्त्त जगत् एक-दूसरे से इस प्रकार मिले हुए हैं कि एक का यथार्थदर्शी दूसरे का रहस्यद्रष्टा बनकर ही पूर्णता पाता है।

इस अखंड और व्यापक चेतना के प्रति कवि का आत्मसमर्पण संभव है या नहीं, इसका जो उत्तर अनेक युगो से रहस्यात्मक कृतियां देती आ रही हैं, वही पर्याप्त होना चाहिए। अलौकिक रहस्यानुभूति भी अभिव्यक्ति में लौकिक ही रहेगी। विश्व के चित्रफलक पर सौंदर्य के रंग और रूपों के रेखाजाल से बना चित्र, यदि अपनी रसात्मकता द्वारा हमारे लिए मूर्त्त का दर्शन और अमूर्त्त की भावना सहज कर देता है, तो तर्क व्यर्थ होगा। यह तो ऐसा है जैसे किसी के अक्षयघट से प्यास बुझा-बुझाकर विवाद करना कि उसने कूप क्यों खोदा जब धरती के ऊपर भी पानी था; क्योंकि उसने धरती के ही अंतर की अविभक्त सजलता का पता दिया है। पर यह सत्य है कि इस धरातल पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का संबंध बनाए रखने के लिए बुद्धि और हृदय की असाधारण एकता चाहिए।

अलौकिक आत्मसमर्पण को समझने के लिए भी लौकिक का सहारा लेना होगा। स्वभाव से मनुष्य अपूर्ण भी है और अपनी अपूर्णता के प्रति सजग भी। अत किसी उच्चतम आदर्श, भव्यतम सौंदर्य या पूर्ण व्यक्तित्व के प्रति आत्म-समर्पण द्वारा पूर्णता की इच्छा स्वाभाविक हो जाती है। आदर्श-समर्पित व्यक्तियो मे ससार के असाधारण कर्मनिष्ठ मिलेंगे, सौंदर्य से तादात्म्य के इच्छुको में श्रेष्ठ कलाकारो की स्थिति है और व्यक्तित्व-समर्पण ने हमे साधक और भक्त दिए हैं।

अखड चेतन से तादात्म्य का रूप केवल बौद्धिक भी हो सकता है, पर रहस्यानुभूति मे बुद्धि का ज्ञेय ही हृदय का प्रेम हो जाता है। इस प्रकार रहस्य-वादी का आत्मसमर्पण बुद्धि की सूक्ष्म व्यापकता से सौंदर्य की प्रत्यक्ष विविधता तक फैल जाने की क्षमता रखता है, अत उसमे सत् और चित् की एकता मे आनद सहज सभव रहेगा।

रहस्योपासक का आत्मसमर्पण हृदय की ऐसी आवश्यकता है, जिसमे हृदय की सीमा, एक असीमता मे अपनी ही अभिव्यक्ति चाहती है। हृदय के अनेक रागात्मक सबधो मे माधुर्यभावमूलक प्रेम ही उस सामजस्य तक पहुच सकता है, जो सब रेखाओ मे रग भर सके, सब रूपो को सजीवता दे सके और आत्म-निवेदक को इष्ट के साथ समता के धरातल पर खडा कर सके। भक्त और उसके इष्ट के बीच म वरदान की स्थिति सभव है, जो इष्ट नही, इष्ट का अनुग्रहदान कहा जा सकता है। माधुर्यभावमूलक प्रेम मे आधार और आधेय का तादात्म्य अपेक्षित है और यह तादात्म्य उपासक ही सहज कर सकता है, उपास्य नही। इसी से तन्मय रहस्योपासक के लिए आदान सभव नही, पर प्रदान या आत्मदान उसका स्वभावगत धर्म है।

अनत रूपो की समष्टि के पीछे छिपे चेतन का तो कोई रूप नही। अत उसके निकट ऐसा माधुर्यभावमूलक आत्मनिवेदन कुछ उलझन उत्पन्न करता रहा है। यदि हम ध्यान से देखें तो स्थूल जगत् म भी ऐसा आत्मसमर्पण मनुष्य के अतर्जगत् पर ही निर्भर मिलेगा। एक व्यक्ति जिसके निकट अपने आपको पूर्ण रूप से निवेदित करके सतोष का अनुभव करता है, वह सौंदर्य, गुण, शक्ति आदि की दृष्टि मे सबको विशिष्ट जान पड़े, ऐसा कोई नियम नही। प्राय एक के अटूट स्नेह, भक्ति का आधार, दूसरे के सामने इतने अपूर्ण और साधारण रूप मे उपस्थित हो सकता है कि वह उसे किसी भाव का आलबन ही न स्वीकार करे। कारण स्पष्ट है। मनुष्य अपने अतर्जगत् मे जो कुछ भव्य छिपाए हुए है, वह जिसमे प्रतिबिबित जान पड़ता है, उसके निकट आत्मनिवेदन स्वाभाविक ही रहेगा। परतु यह आत्मनिवेदन सामसामञ्जस्य आत्मसमर्पण से भिन्न है क्योकि लालसा अंतर्जगत के सौंदर्य की साकारता नही देखती, किसी स्थूल अभाव की

आया हूं।)

ऋग्वेद के इस रहस्यात्मक अंकुर ने दर्शन और काव्य में जैसी विविधता पाई है, वह प्रत्येक जिज्ञासु के लिए विशेष आकर्षण रखती है।

जैसे-जैसे यह हृदयगत आकुलता मस्तिष्क की सीमा के भीतर प्रवेश पाती जाती है, वैसे-वैसे एक चिंतन-प्रधान जिज्ञासा अमरबेलि के समान फैलने लगती है, अत कवि प्रकृति के विविध रूपो पर चेतना का आरोप करके ही संतुष्ट नही होता। वह इस सबध मे क्या और क्यों भी जानना चाहता है।

क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

ऋ० १०-७-६

(विपरीत रूप वाले, गौर और श्याम दिन-रात कहा पहुंचने की अभिलाषा करके जा रहे हैं? वे सरिताएं जहा पहुंचने की अभिलाषा से चली जा रही हैं? उस परम आश्रय को बताओ। वह कौन है?)

क्व प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्व प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

अथर्व १०-७-४

(यह सूर्य किसकी अभिलाषा मे दीप्तिमान् है? यह पवन कहा पहुंचाने की इच्छा से निरंतर बहता है? यह सब जहां पहुंचने के लिए चले जा रहे हैं, उस आश्रय को बताओ। वह कौन-सा पदार्थ है?)

इस जिज्ञासा ने आगे चलकर व्यापक चेतन तत्त्व को, प्रकृति के माध्यम से भी व्यक्त किया है और उसके बिना भी, अतः उसकी सर्ववाद और आत्मवाद संबंधी दो शाखाएं हो गई।

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णव.।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

अथर्व १०-७-३३

(सूर्य और पुन:-पुन नवीन रूप में उदित होनेवाला चंद्रमा जिसकी दो आखों के समान हैं, जो अग्नि को अपने मुख के समान बनाए हुए है, उस परम तत्त्व को नमन है।)

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

अथर्व १०-७-३२

(भूमि जिसके चरण हैं, अंतरिक्ष उदर है और आकाश जिसका मस्तक है, उस परम शक्ति को नमन है।

इसी की छाया हमें गीता के सर्ववाद मे मिलती है।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वा दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥

(तुम्हारा आदि, मध्य और अवसान नहीं है, तुम अनंत शक्तियुक्त और अनंत भुजाओं वाले हो, सूर्य चंद्र तुम्हारे नेत्र है, दीप्ति अग्नि मुख है। अपने तेज से विश्व को उद्भासित करने वाले! मैं तुम्हें देख रहा हूं।)

यह सर्ववाद अधिक भागवत होकर भारतीय काव्य मे प्रकृति और जीवन को विविधता म एकता देता रहा है।

इस प्रवृत्ति ने प्रकृति मे दिव्य शक्तियो का आरोप भी सहज कर दिया है और उसे मानव जीवन के पग से पग मिलाकर चलने का अधिकार भी दे डाला है। हम मानव की बाह्य रूपरेखा के समान उसके अंतर्निहित सौंदर्य को भी प्रत्यक्ष देखते हैं और हृदय की धड़कन के समान उसके गूढ़ स्पंदन का भी अनुभव करते हैं।

संस्कृत काव्यो मे प्रकृति की सजीव रूपरेखा, उसका मानव सुख-दुःखो के स्वर से स्वर मिलाना, जीवन का पग-पग पर उससे सहायता मागना, इसी प्रवृत्ति के भिन्न रूप हैं।

शकुंतला के साथ पलने वाले वृक्ष-लता क्यो इतने सजीव हैं कि वह उनसे विदा मांगे बिना पति के घर भी नहीं जा सकती, उत्तररामचरित की नदिया क्यों इतनी सहानुभूतिशीला हैं कि एकाकिनी सीता के लिए सखिया बन जाती हैं, यक्ष के निकट मेघ क्यो इतना अपना है कि वह उसे अपने विरही हृदय की गूढ़ व्यथा का वाहक बना लेता है, आदि प्रश्नो का उत्तर, उसी प्रवृत्ति मे मिलेगा जो चेतनतत्त्व को विश्वरूप देखती है।

चिंतन की ओर बढ़नेवाली जिज्ञासा ने भौतिक जगत् का कम से कम सहारा लेते हुए चेतना की एकता और व्यापकता स्थापित करने की चेष्टा की है—

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
यदंग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्रि नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन ॥
अथर्व० ११-४-२१

[यह हंस (चेतन तत्त्व) एक पैर जल से (संसार से) ऊपर उठाकर भी दूसरा जल मे स्थिर रखता है। यदि वह उस चरण को भी उठा ले (मोक्षरूप में पूर्णतः असंग हो जावे) तो न आज रहे न कल रहे, न रात्रि हो न दिन हो, न कभी उषाकाल हो सके।]

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नैव दृश्यते ।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥
अथर्व० १०-८-२५

(एक वस्तु जो बाल से अत्यंत सूक्ष्म और वह भी एक हो तो वह नहीं के समान दिखाई देती है; तब जो उससे भी सूक्ष्म वस्तु के भीतर व्यापक और अति सूक्ष्मतम सत्ता है, वह मुझे प्रिय है।)

क्रमशः इस सूक्ष्म सत्ता पर बुद्धि का अत्यधिक अधिकार होने के कारण प्रेम भाव के लिए कहीं स्थान नहीं रहा—

वेदोहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोता. प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदायो यद् ब्राह्मणं महत्॥
अथर्व० १०-८-३८

(मैं उस व्यापक सूत्र को जानता हूं जिसमें यह प्रजा गुंथी हुई है। मैं सूत्र के भी सूत्र को जानता हूं जो सबसे महत् है।)

परंतु तत्त्वदर्शक इस परम महत् के सनातन रूप को भी अपनी विविधता में चिर नवीन देखता है।

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः॥
अथर्व० १०-८-२३

(वह परम तत्त्व सनातन कहा जाता है। पर वह तो आज भी नया है, जैसे दिन-रात बराबर नये-नये उत्पन्न होते हैं, पर रूपों में एक-दूसरे के समान होते हैं।)

यही भाव उपनिषदों में मिलता है—

ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः एतद्वैतत्।
—का० उप०

जब चेतन की व्यापकता और जड़ की विविधता की अनुभूति, हमारा हृदय करता है, तब वह रूपों ही के माध्यम से अरूप का परिचय देता है। इस क्रम से काव्य और कलाओं की सृष्टि स्वाभाविक है; क्योंकि वे सत् या व्यापक सत्य को सौंदर्य की विभिन्नता में अनुवादित करने का लक्ष्य रखती हैं। परंतु जब इसी सत्य को मस्तिष्क अपनी सीमा में घेर लेता है, तब वह सूक्ष्म से सूक्ष्म सूत्र के सहारे रूप-समष्टि की एकता प्रमाणित करना चाहता है। इस क्रम से हमारे दर्शन का विकास होता है, क्योंकि उसका उद्देश्य रूपों की विविधता को परम तत्त्व में एकरस कर देना है।

इस प्रकार हमारी रहस्यभावना चिंतन में सूक्ष्म अरूपता ग्रहण करने लगी। वह खो नहीं गई, क्योंकि उपनिषद् का अर्थ ही रहस्य है। ब्रह्म और जगत की सापेक्षता, आत्मा और परमात्मा की एकता आदि ने दर्शन की विविध शैलियों को जन्म दिया है।

कर्मकाण्ड के विस्तार से थके हुए कुछ मनीषियों ने चिंतन पद्धति के द्वारा ही आत्म का चरम विकास संभव समझा। इनके साथ वह पक्ष भी रहा जो

कुछ योग क्रियाओ और अभ्यासो द्वारा आत्मा को दिव्य शक्ति-सपन्न बनाने मे विश्वास रखता था—दूसरे अर्थ मे वह कर्मकाड के रूप मे परिवर्तन चाहता था, उसका अभाव नही। एक कर्म-पद्धति भौतिक सिद्धियो के लिए थी, दूसरी आत्मिक ऋद्धियो के लिए। इसी मे अत मे साधनात्मक रहस्यवाद, वज्रयानी शैव, तात्रिक आदि सप्रदायो मे, ऐसे भौतिक धरातल पर उतर आया कि वह स्थूल सुखवाद का साधन बनाया जाने लगा।

अष्टाचक्र नवद्वारा देवाना पूरयोध्या।

(अष्ट चक्र नव द्वारो वाली यह इद्रिगणो की अजेय पुरी है।)

पुण्डरीक नवद्वार त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।

—अथर्व०

(नवद्वार वाला यह श्वेतकमल है जो सत्त्व, रज, तम तीन गुणो से ढका हुआ है।)

उपर्युक्त पक्तियो मे शरीर-यत्र की जो रहस्यात्मकता वर्णित है, उसने ऐसा विस्तार पाया, जो आत्मा को सबसे ऊपर परम व्योम तक पहुचाने का साधन भी हुआ और नीचे पाताल से बाध रखने का कारण भी।

रहस्य के दर्शन के प्रहरी हमारे चिंतनशील मनीषी रहे। उपनिषदो और विशेषत वेदात दर्शन ने आत्मा और परम तत्त्व के सबध को उत्तरोत्तर परिष्कृत किया है। उपनिषद् हमारे पद्य और गद्य के बीच मे स्थिति रखते है।

सूक्ष्म तत्त्व को प्रकट करने के लिए उनकी सकेतात्मक शैली, अतर्जगत मे उद्भासित सत्य को स्पष्ट करने वाली रूपकावली, शाश्वत् जीवन से सबध रखने-वाले सरल उपाख्यान आदि विशेषताए, उन्हें काव्य की सीमा से बाहर नही जाने देंगी और उनका तत्त्वचिंतन, उनके सिद्धात सबधी सवाद, उनका शुद्ध तर्कवाद आदि गुण उन्हे गद्य की परिधि मे रखेंगे।

कर्म को प्रधानता देने वालो के विपरीत तत्त्वचितको ने अत करणशुद्धि, ध्यान, मनन आदि को परम सत्ता तक पहुचाने वाला साधन ठहराया—

धनुर्गृहीत्वौपनिषद महास्त्र
शर ह्युपासानिशित सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्य तदेवाक्षर सौम्य विद्धि॥

[हे सौम्य! उपनिषद् (ज्ञान) महास्त्ररूप धनुष लेकर उस पर उपासना रूप-तीक्ष्ण बाण चढ़ा और फिर ब्रह्मभावानुगत चित्त से उसे खीचकर अक्षर लक्ष्य का वेध कर।]

रहस्यवाद मे जो प्रवृत्तिया मिलती हैं, उन सबके मूल रूप हमे उपनिषदों की विचारधारा मे मिल जाते हैं। रहस्यभावना के लिए द्वैत की स्थिति भी

वश्यक है और अद्वैत का आभास भी, क्योंकि एक के अभाव मेविरहो की नुभूति असंभव हो जाती है और दूसरे के बिना मिलन की इच्छा आधार 'ख ती है।

द्वैती के लिए तत्त्वचितक अपनी सांकेतिक शैली मे कहता है—

द्वा सुपर्णा सयुज सखाया
समान वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पल स्वाद्वत्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
—मु० उप०

(साथ रहने और समान आख्यान वाले दो पक्षी एक ही तरु पर रहते हैं। में एक स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा भोग न करके देखता रहता है।)

आत्मा और परम तत्त्व की एकता भी अनेक रूपो मे व्यक्त की गई —

तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि।
छा० उप०

(वह सत्य है, आत्मा है, वह तू है।)

नेह नानास्ति किंचन।
—क० उप०

(यहां नानरूप कुछ नही है।)

अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेदा।
—बृ० उप०

(वह अन्य है, मैं अन्य हूं, जो यह जानता है वह नही जानता।)

रहस्यवादियों के समान ही अनेक तत्त्वदर्शक भी इच्छा के द्वारा ही आत्मा र परमात्मा की एकता सभव समझते हैं—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।
—मु० उप०

[जिस परमात्मा को यह (आत्मा) वरण करता है, उस वरण के द्वारा ही परम तत्त्व प्राप्त हो सकता है।]

इस एकता के उपरांत आत्मा और ब्रह्म मे अंतर नही रहता। आत्मा अपनी ाधियां छोड़कर परम सत्ता मे वैसे ही लीन हो जाता है—

यथा नद्यः स्यन्दमानः समुद्र-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।

(जैसे निरंतर बहती हुई सरिताएं नाम-रूप त्यागकर समुद्र मे विलीन हो ती हैं।)

उसी चेतन तत्त्व से सारा विश्व प्रकाशित है—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिद विभाति ।

उसके प्रकाशित होने से सब कुछ प्रकाशित होता है । (सारा ससार उसी से आलोकित है ।)

उपर्युक्त पक्तिया हमे कबीर के 'लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल' का स्मरण करा देती हैं ।)

वह परम सत्ता के निकट होकर भी दूरी का भास देती है ।

सूक्ष्माच्च सूक्ष्मतर विभाति
दूरात् सुदूरे तदिहन्तिके च ।
—मु० उप०

(वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर भासमान् होता है और दूर से भी दूर, पर इस शरीर मे अत्यत समीप भी है ।)

जायसी ने 'पिय हिरदै महँ भेंट न होई' मे जो कुछ व्यक्त किया है, उसे बहुत पहले उपनिषद्काल का मनीषी भी कह चुका था । वेद का सर्ववाद भी उपनिषदो के चिंतन मे विशेष महत्त्व रखता है ।

अत समुद्रा गिरयश्च सर्वे-
ऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धव सर्वरूपा ।

(इसी से समस्त समुद्र और पर्वत उत्पन्न हुए हैं, इसी से अनक रूप वाली नदियां प्रवाहित हैं ।)

तदेतत्सत्य यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिगा ।
—मु० उप०

(वही सत्य है । उसी ज्योतिर्मय से सब ऐसे उत्पन्न हुए हैं, जैसे प्रदीप्त अग्नि से उसी के समान रूपवाले सहस्रा स्फुलिंग ।)

रहस्यवादियो ने परम तत्त्व और आत्मा के बीच मे माधुर्यभावमूलक सबध की स्थापना के लिए, उन दोनो मे पुरुष और नारी-भाव का आरोप किया है । इस कल्पना की स्थिति के लिए जो धरातल आवश्यक था, वह तत्त्वचिंतक द्वारा निर्मित हुआ है । सांख्य ने जडतत्त्व को त्रिगुणात्मक प्रकृति और विकार-शून्य चेतन-तत्त्व को पुरुष की सज्ञा दी है, अत इन सज्ञाओ ही मे इस प्रकार का अतर उत्पन्न हो गया, जो पुरुष और नारी रूप की कल्पना ही सहज कर दे । जड तत्त्व से उत्पन्न प्राणि-जगत् भी प्रजा और सृष्टि कहलाता रहा ।

आत्मा अपने सीमित रूप मे जड मे बधा है, अत प्रकृति की उपाधियां उसे मिल जाने के कारण, वह भी परम पुरुष के निकट प्रकृति का परिचय लेकर

उपस्थित होने लगा।

आत्मा को चिति के रूप में ग्रहण करने वाले मनीषी भी उसके स्वभाव का आभास देने के लिए नारी संज्ञाओं का प्रयोग करने लगे।

इयं कल्याणजरा मृत्यस्यामृता गृहे।

—अथर्व०

(यह कल्याणी, कभी जीर्ण न होने वाली और मरणशील शरीर में अमृता नित्य है।

ऋग्वेद के मनीषी भी कहीं-कहीं अपनी बुद्धि या मति के लिए वरणीय वधू का प्रयोग करते हैं।

इस संबंध मे जो आत्मसमर्पण का भाव है उसके भी कारण हैं। जो सीमित है, वही असीम मे अपनी मुक्ति चाहता है, पर इस मुक्ति को पाने के लिए उसे अपनी सीमा का समर्पण करना ही होगा। नदी समुद्र मे मिलकर अथाह हो जाती है, परंतु इस लक्ष्य की प्राप्ति तब तक संभव नही जब तक वह अपनी नाम-रूप आदि सीमाएं समुद्र को समर्पित न कर दे।

समर्पण के भाव ने भी आत्मा को नारी की स्थिति दे डाली। सामाजिक व्यवस्था के कारण नारी अपना कुल, गोत्र आदि परिचय छोड़कर पति को स्वीकार करती है और स्वभाव के कारण उसके निकट अपने आपको पूर्णतः समर्पित कर उस पर अधिकार पाती है। अतः नारी के रूपक से सीमाबद्ध आत्मा का असीम में लय होकर असीम हो जाना सहज ही समझा जा सकता है।

आत्मा और परमात्मा के इस माधुर्यभावमूलक संबंध ने सगुणोपासना पर भी विशेष प्रभाव डाला है। सगुण-भक्त द्वैत को लेकर चलता है। एक सीमा दूसरी सीमा मे अपनी अभिव्यक्ति चाहती है। एक अपूर्ण व्यक्तित्व दूसरे पूर्ण व्यक्तित्व के स्पर्श का इच्छुक है। भक्त विवश सीमाबद्ध है और इष्ट परम तत्त्व की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए स्वेच्छा से सीमाबद्ध है, पर हैं तो दोनो सीमाबद्ध ही। ऐसी स्थिति में उनके बीच मे सभी मानवीय संबंध संभव हैं। पर माधुर्यभावमूलक संबंध तो लौकिक प्रेम के बहुत समीप आ जाता है, क्योंकि लौकिक प्रेम के परिष्कृततम रूप मे, प्रेमपात्र भी परम तत्त्व की अभिव्यक्तियों मे पूर्ण अभिव्यक्ति बन जाने की क्षमता रखता है।

दक्षिण की अंदाल, उत्तर की मीरा, बंगाल के चैतन्य आदि मे हमे कृष्ण पर आश्रित माधुर्यभाव के उज्ज्वल रूप मिलते हैं। परंतु स्थूल धरातल पर उतरकर माधुर्यभावमूलक उपासना हमे देवदासियो के विवश करुण जीवन और सम्प्रदायो में प्रचलित सुखवाद के ऐसे चित्र भी दे सकी, जो भक्ति की स्वच्छता मे मलिन धब्बे जैसे लगते हैं।

भारतीय रहस्यभावना मूलतः बुद्धि और हृदय की संधि मे स्थिति रखती

है। एक से यह सूक्ष्म तत्त्व की व्यापकता नापती है और दूसरे से व्यक्त जगत् की गहराई की थाह लेती है। यह समन्वय उसके भावावेग को बुद्धि की सीमा नही तोडने देता और बुद्धि को भाव की असीमता रोकने के लिए तट नही बाधने देता। रहस्यानुभूति भावावेश की आधी नही, वरन् ज्ञान के अनत आकाश के नीचे अजस्र प्रवाहमयी त्रिवेणी है, इसी से हमारे तत्त्वदर्शक बौद्धिक तथ्य को हृदय का सत्य बना सके। बुद्धि जब अपनी हार के क्षणो मे थके स्वर मे कहती है—अविज्ञात विजानताम् (जानने वालो को वह ब्रह्म अज्ञात है), तब हृदय उसकी हार को जय बनाता हुआ विश्वास-भरे कठ से उत्तर देता है—तत्त्वमसि (तुम स्वय वही हो)।

बौद्ध और जैन मतो पर भी उपनिषदो की रहस्यभावना का प्रभाव पड़े बिना नही रहा।

वेदात का अहकार, मनस् और विज्ञान के शून्य आत्मन्, उस आत्मा से भिन्न है जो इनकी समष्टि है। चरम विकास के उपरात आत्मन् की शून्य व्यापकता, बौद्ध मत के उस निर्वाण के निकट पहुँच जाती है जो विकास क्रम के अत मे बोधिसत्त्व (विकास-क्रम मे बधे जीव) को एक शून्य स्थिति मे मुक्ति देता है। 'सर्वभूतहित' और 'मा हिंस्यात्' की भावना बुद्ध-मत की महामैत्री और महाकरुणा मे इतना विस्तार पा गई कि वह चरम विकास तक पहुचाने वाला साधन ही नही, उसका लक्षण भी बन गई। अन्य मतो म करुणा परम तत्त्व से तादात्म्य का माध्यम मात्र है, पर बुद्ध की विचारधारा मे वह परम तत्त्व का स्थान ही ले लेती है। करुणा किसी परम तत्त्व से तादात्म्य के लिए स्थिति नही रखती, वरन् वह बोधिसत्त्व की स्थिति के अभाव का साधन और उनके चरम विकास का परिचय है। सबके प्रति महामैत्री और महाकरुणा से युक्त होकर ही बोधिसत्त्व बुद्ध होता और निर्वाण तक पहुचता है। इस प्रकार अभाव तक पहुचाने वाला यह भावजगत्, परम तत्त्व की व्यापकता मे अपने आपको खो देनेवाले रहस्यवादी के विश्वव्यापी प्रेमभाव से विचित्र साम्य रखता है।

बौद्ध धर्म अज्ञान और तृष्णा को दुख का कारण मानता है, जो उपनिषदो मे मिलने वाली अविद्या और काम के रूपातर हैं। अत करण की शुद्धि को प्रधानता देने वाले मनीषियो के समान बुद्ध ने भी कर्मकाड को महत्त्व नही दिया। पर बुद्ध मत का साधना क्रम योग के साधना-क्रम से भिन्न नही रहा। ज्ञान में व्यापक स्पर्श को खोकर बौद्धो मे भी एक ऐसा सप्रदाय उत्पन्न हो गया, जो साधना प्राप्त सिद्धियो का प्रयोग भौतिक सुख-भोग के लिए करने लगा।

जैन मत ने 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना को चरम सीमा तक पहुचा दिया और ब्रह्म की एकता को नया रूप दिया। जीवन के चरम विकास के उपरात वे शून्य या स्थिति मे अभाव को न मानकर उसमे व्यापक भाव को मानते

हैं। जगत् में सब जीवों में ईश्वरता है और पूर्ण विकास के उपरांत जीव किसी परम तत्त्व से तादात्म्य न करके स्वयं असीम और व्यापक स्थिति पा लेता है।

जैन धर्म का साधना-क्रम अंतःकरण की शुद्धि के साथ शारीरिक तप को विशेष महत्त्व देता है।

नामरूप में सीमित किसी व्यक्तिगत परमात्मा को न मानकर अपनी शून्य और असीम व्यापकता में विश्वास करने वाले इन मतों और अपने आपको किसी निर्गुण तथा निराकार व्यापकता का अंश मानने वाले और उसमें अपनी लय को, चरम विकास समझने वाले रहस्यवादियों में जो समानता है, उसे साम्प्रदायिक विद्वेषों ने छिपा डाला। एक पक्ष, नास्तिक धर्म की परिधि में घिरा है, दूसरा धर्महीन दर्शन की परिभाषा में बंधा है, पर इन सबके मूलगत तत्त्व एक ही चिंतन-परंपरा का पता देते हैं। जीवन के कल्याण के प्रति सतत जागरूकता सब जीवों के प्रति स्नेह, करुणा और मैत्री का भाव, पारलौकिक सुख-दुःख के प्रतीक स्वर्ग-नरक में अनास्था, साधना का अंतर्मुखी क्रम आदि, भारतीय तत्त्व-चिंतन की अपनी विशेषताएं हैं।

हमारे तत्त्व-चिंतकों की बुद्धि सूक्ष्म से सूक्ष्मतर महाशून्य को सब ओर से स्पर्श कर कल्याण का ऐसा बादल घेर लाती है जो जीवन की स्थूल धरती पर बरस-कर ही सार्थकता पाता है। हमारे यहां नास्तिकता बुद्धि की वह निर्ममता है, जो कल्याण की खोज में किसी भी बाधा को नहीं ठहरने देना चाहती, अतः वह जीवन संबंधी आस्था से इस तरह भरी रहती है कि उसे शून्य मानना कठिन है।

पश्चिम में प्लेटो और प्लोटिनस ने जिस रहस्य-भावना को जन्म और विकास दिया, वह ब्रह्म और जीव की एकता पर आश्रित न होकर ब्रह्म और जगत् के बिंब-प्रतिबिंब-भाव में स्थिति रखती है। दूसरे शब्दों में जगत् का तत्त्व-रूप ब्रह्म है और ब्रह्म का छायारूप जगत्। ऐसी स्थिति में आत्मा-परमात्मा की अद्वैत स्थिति का चरम विकास सहज न हो सका। इस प्रवृत्ति से जो कल्पना, प्रधान रहस्य-भाव उत्पन्न हुआ, उसका प्रभाव दर्शन से लेकर रोमांटिक काव्य तक मिलता है। इस्लाम और ईसाई मतों पर भी इसकी छाया है, पर उन पर भारतीय रहस्य-चिंतन का भी कम प्रभाव नहीं।

ईसाई मत का रहस्यवाद एक विशेष स्थिति रखता है। वह धर्म की परिधि में उत्पन्न हुआ और वहीं रहा, अतः स्वयं एक सम्प्रदाय के भीतर सम्प्रदाय बन गया। धर्म और रहस्यभावना में विरोध न होने पर भी वे एक नहीं हो सकते। धर्म बाह्य जीवन में सामंजस्य लाने के लिए विधिनिषेधात्मक सिद्धांत भी देता है और सबके कारणभूत तत्त्व को एक निश्चित व्यक्तित्व देकर हमारे विश्वास में प्रतिष्ठित भी करता है। रहस्य का अर्थ वहां से होता है, जहां धर्म की इति है। रहस्य का उपासक हृदय में सामंजस्यमूलक परम तत्त्व की अनुभूति

प्राप्त करता है और वह अनुभूति परदे के भीतर रखे हुए दीपक के समान अपने प्रशात आभास से उसके व्यवहार को स्निग्धता देती है। रहस्यवादी के लिए नरक, स्वर्ग, मृत्यु, अमरता, परलोक, पुनर्जन्म आदि का कोई महत्त्व नही । उसकी स्थिति में केवल इतना ही परिवर्तन सभव है कि वह अपनी सीमा को अपने असीम तत्त्व मे खो सके ।

पश्चिमीय रहस्यवाद के प्रवेशद्वार पर हम प्लोटिनस (Plotinus) के उपरात डायोनिसियस (Dionysius) का रहस्यमय व्यक्तित्व पाते हैं, जिसने मध्य-युग के समस्त रहस्य चिंतन को प्रभावित किया है । यह रहस्यवादी होने के साथ-साथ ईसाई धर्म का विश्वासी अनुयायी भी था, अत इसकी चिंतन-पद्धति दोनो को समान महत्त्व देती चलती है ।

ईसाई मत की पहली धार्मिक कट्टरता ने मनुष्य मे किसी ऐसे नित्य और अक्षर तत्त्व को नही स्वीकार किया था, जो परमात्मा से एक हो सके । डायोनिसियस भारतीय ऋषियो के समान ही, मनुष्य को शरीर, जीवात्मा और आत्मा के साथ देखता है । वह आत्मा ऐसी नित्य और अक्षर है जैसा परमात्मा, अत दोनो का तादात्म्य सभव है । परमात्मा को आत्मा से एक कर देने का साधन प्रेम है । डायोनिसियस कहता है—'It is the nature of love to change a man into which he loves' (प्रेम का यह स्वभाव है कि वह मनुष्य को उसी वस्तु मे बदल देता है, जिससे वह स्नेह करता है ।)

परमात्मा के सबध मे उसका मत है—'If any one sees God and understands what he sees, he has not seen God at all' (यदि कोई परमात्मा को देखता है और उसे अपने दृष्टि विषय का ज्ञान है तब उसने उसे देखा ही नहीं । हमारे तत्त्वदर्शी भी स्वीकार करते हैं—'यस्यामत तस्य मत मत यस्य न वेद स (जिसको ज्ञात नही उसको ज्ञात है, जिसको ज्ञात है वह उसे नही जानता) ।

स्वर्ग-नरक के सबध मे उसके जो विचार हैं, वे रहस्यवादियो की विचार-परपरा से साम्य रखते हैं—'To be separated from God is hell and the sight of God's Countenance is heaven' (परमात्मा से दूरी नरक और उसका दर्शन स्वर्ग है ।)

एखहार्ट (Eckhart) भी आत्मा-परमात्मा की एकता और इस आत्मा मे तादात्म्य सहज करने वाली शक्ति की स्थिति मानता है—

'There is no distinction left in soul's consciousness between itself and God' (आत्मा की जागृति मे परमात्मा और आत्मा मे अतर नहीं रहता ।

माधुर्यभाव पर आश्रित और धर्म-विशेष मे सीमित इस रहस्यवाद ने एक

ऐसी उपासना पद्धति को जन्म दिया, जिसमें उपासक, वधू के रूप में आत्मसमर्पण द्वारा प्रभु से तादात्म्य प्राप्त करने लगे। इस आध्यात्मिक विवाह के इच्छुक उपासक और उपासिकाओं के लिए जो साधनाक्रम निश्चित था, उसका अभ्यास मठों के एकांत में ही संभव था। यह रहस्योपासना हमारी माधुर्यभावमूलक सगुणोपासना के निकट है। महात्मा ईसा की स्थिति हमारे अवतारवाद से भिन्न नहीं और उनकी साकारता के कारण यह रहस्योपासक भक्त ही कहे जाएंगे। *आराध्य जब नाम-रूप से बंधकर एक निश्चित स्थिति पा गया, तब रहस्य का* प्रश्न ही नहीं रहा।

पश्चिम के काव्य में मिलने वाली रहस्य-भावना उस प्रकृतिवाद से संबंध रखती है, जिसमें प्रकृति का प्रत्येक अंग सजीव और स्वतंत्र स्थिति रखता है। प्रकृति के हर रूप में सजीवता देख लेना ही रहस्यानुभूति नहीं है, क्योंकि रहस्य में प्रकृति की खंडश: सजीवता एक व्यापक परम तत्व की अखंड सजीवता पर आश्रित रहती है, जो आत्मा का प्रेम है। सजीव जंतुओं का समूह शरीर नहीं कहा जाएगा, पर जब अनेक अंग एक की सजीवता में सजीव हों तब वह शरीर है। रहस्यवादी के लिए विश्व ऐसी ही एक सजीव स्थिति में रहता है। ब्लेक, वर्डस्वर्थ जैसे कवि एक ओर प्रकृतिवादी हैं। और दूसरी ओर जगत् और ब्रह्म के बिंब-प्रतिबिंब भाव से प्रभावित कल्पनाशील रहस्यवादी। इस रहस्य-भावना में परम तत्त्व से आत्मा की एकता का चरम विकास भी सहज नहीं और परम तत्त्व के प्रति आत्मा के तीव्र प्रेम-भाव की स्थिति भी कठिन है।

सूफियों का रहस्यवाद इससे कुछ भिन्न और भारतीय रहस्य-चिंतन के अधिक निकट है।

इस्लाम के एकेश्वरवाद में भाव की क्रीड़ा के लिए स्थान नहीं। प्रकृति भी इतनी विविधरूपी और समृद्ध नहीं कि मनुष्य के भावजगत् का व्यापक आधार बन सके। अत: हृदय का भावावेग सहस्र-सहस्र धाराओं से फैलकर मानवीय संबंधों को बहुत तीव्रता से घेरता रहा। काव्य में मिलन-विरह संबंधी कल्पना, अनुभूति आदि का जैसा विस्तार मिलता है, उससे भी यही निष्कर्ष निकलेगा।

भारतीय चिंतन-पद्धति के समान वहां तत्त्व-चिंतन का क्षेत्र इतना विस्तृत नहीं हुआ था, जिसमें मनुष्य अपनी बुद्धिवृत्ति को स्वच्छंद छोड़ सके। संसार और उसमें व्याप्त सत्ता के संबंध में कोई जिज्ञासा या रहस्य की अनुभूति होने पर उसकी अभिव्यक्ति के मार्ग में अनेक कठिनाइयां आ उपस्थित होती थीं। धर्म की सीमा के भीतर विश्वास का कठोर शासन होने के कारण, ऐसी अनुभूतियां वहां प्रवेश नहीं पा सकती थीं और लौकिक प्रेम की संकीर्ण परिधि में स्थूल की प्रधानता के कारण उनकी स्थिति संभव नहीं रहती थी।

हमारे कर्मकांड की एकरसता के विरोध मे जैसे भावात्मक ज्ञानवाद का विकास हुआ, धर्मगत शुष्कता की प्रतिक्रिया में वैसे ही सूफियों से दर्शनात्मक हृदयवाद का जन्म हुआ। भारतीय वेदात ने उन्हे बहुत प्रभावित किया, क्योंकि वह बुद्धि और हृदय दोनो के लिए ऐसा क्षितिज खोल देता है, जिसमे व्यापकता भी विविध रगमयी है।

यहा के तत्व-चिंतको के समान सूफी भी हक, बदा और शैतान के रूप मे परमात्मा आत्मा और अविद्या की स्थिति स्वीकार करते है।

'तद्भवगतेन चेतसा' के द्वारा मनीषियो ने जो सकेत किया है, उसको सूफियो म अधिक भावात्मक रूप मिल गया। इस प्रेम-तत्त्व के द्वारा सूफी परम आराध्य से एक हो सकता है। 'स यो ह वै तत्पर ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' (जो निश्चयपूर्वक उस ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है) की प्रतिध्वनि हम सूफी अत्तार के शब्दो मे मिलती है—'प्रेम म मैं और तू नही रहते। अह प्रेम के आधार मे लय हो जाता है।'

इसी प्रकार शब्दतरी का कथन है—'मैं और तू मे कोई अतर नही। एकता मे किसी प्रकार का अतर होता ही नहीं है। जिसके हृदय से द्वैत निकल गया, उसकी आत्मा से 'अहम् ब्रह्मास्मि' की ध्वनि गूजने लगती है।' परम तत्त्व से छूटे हुए मनीषियो के समान ही रूमी वियोग के सबध म कहता है, 'जो पुरुष अपने मूल तत्त्व से छूट गया है, उसको उससे पुर्नमिलन की चिंता रहती है।'

'य एषोऽतर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते' (यह जो हृदय के भीतर का आकाश है वह (ब्रह्म) उसी मे सोता है) को तत्त्वत ग्रहण कर लेने पर बाहर के उपासना विधान की आवश्यकता नही रही। पर अत शुद्धि के लिए दूसरी अतर्मुखी साधना पद्धति का विकास होना अनिवार्य हो गया। योग के साधनात्मक रहस्यवाद ने सूफियो की साधना-पद्धति को विशेष रूप-रेखा दी है। तुरीयावस्था तक पहुचने के पहले आत्मा की अवस्थाए, समाधि तक पहुचने के पूर्व साधना का आरोह क्रम आदि का जैसा रहस्यात्मक विस्तार योग में हुआ है, उसी को सूफियो ने स्वीकृति दी है। पर उनका व्यष्टिगत प्रेय हमारे तत्त्व-दर्शन के समष्टिगत श्रेय का रूप नही पा सका।

सूफ (सफेद ऊन) का वस्त्र पहनने वाले इन फकीर रहस्यद्रष्टाओ की स्थिति हमारे मनीषियो से भिन्न रही। इन्हें बहुत विरोध का सामना करना पडा जो इस्लाम धर्म का रूप देखते हुए स्वाभाविक भी था।

वहा 'अनलहक' कहने वाला धर्म का विरोधी बनकर उपस्थित होता है, पर यहा 'अह ब्रह्मास्मि' पुकारने वाला तत्त्वदर्शी की पदवी पाता है, क्योंकि हमारे यहा ब्रह्मरूप श्रेय बन जाना ही आत्मरूप प्रेय का चरम विकास है।

इसके अतिरिक्त भारतीय रहस्यप्रवृत्ति लोक के निकट अपना इतना रहस्य खोल चुकी थी कि उसका द्रष्टा असामाजिक प्राणी न माना जाकर सबका परम आत्मीय माना गया। सूफी संतों को परिस्थितियों ने उन्हें लोक से दूर स्थिति देकर उनके प्रेम को अधिक ऐकांतिक विकास पाने दिया; इसी से तत्त्वचिंतक बाहर के विरोधों की चर्चा नहीं करते, पर सूफियों की रचनाओं में लोक-कठोरता का ब्योरा भी मिलता है।

परंतु इन्हीं कारणों ने सूफियों के काव्य को अधिक मर्मस्पर्शिता भी दे डाली। तत्त्वचिंतन की विकसित प्रणाली न होने के कारण उन्होंने परम तत्त्व की व्यापकता की अनुभूति और उसमें तादात्म्य की इच्छा को विशुद्ध भाव-भूमि पर ही स्थापित किया, अतः उनके विरह-मिलन की सांकेतिक अभिव्यक्तियां अपनी अलौकिकता में भी लौकिक हैं।

हिन्दी काव्य में रहस्यवाद वहां से आरंभ होता है, जहां दोनों ओर के तत्त्वदर्शी एक असीम आकाश के नीचे ही नहीं, एक सीमित धरती पर भी साथ खड़े हो सके। अतः दोनों ओर की विशेषताएं मिलकर गंगा-यमुना के संगम से बनी त्रिवेणी के समान एक तीसरी काव्यधारा को जन्म देती हैं। इस काव्यधारा के पीछे ज्ञान के हिमालय की शत-शत तुषार-धवल उन्नत चोटियां हैं और आगे भाव की हरी-भरी पुष्पदुकूलिनी असीम धरती। इसी से इसे निरंतर गतिमय नवीनता मिलती रह सकी।

भारतीय रहस्यचिंतन में एक विशेषता और है। उसके समर्थक हर बार क्रांति के स्वर में बोलते रहे हैं। रूढ़िग्रस्त धर्म, एकरस कर्मकांड और बद्धमूल अंधविश्वास के प्रति वे कितने निर्मम हैं, जीवन के कल्याण के प्रति कितने कोमल हैं और विचारों में कितने मौलिक हैं, इसे उपनिषद्काल की विचार-धाराएं प्रमाणित कर सकेंगी। जीवन से उनका कोई ऐसा समझौता संभव ही नहीं, जो सत्य पर आश्रित न हो।

धर्म की दुर्लंध्य प्राचीरें और कर्मकांड की दुर्गम सीमाएं पार कर मुक्त आकाश में गूंजने वाला रहस्यद्रष्टा का स्वर हमें चौंका देता है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥ ईशावास्य उप०

(जो मनुष्य आत्मा का स्वभाव जानता है, जो सब भूतों में उसकी व्याप्ति का ज्ञान रखता है, उस एकत्व के द्रष्टा के लिए भ्रांति कैसी, खिन्नता क्यों?)

बुद्धि के ऐसे सूक्ष्म स्तर पर भी तत्त्वदर्शक जीवन की यथार्थता नहीं भूलता, अतः इसी उपनिषद् में 'कुर्वन्नेवेहि कर्माणि जिजिविषे'...आदि में हम पाते हैं—'यहां कर्म करता हुआ जीने की इच्छा कर। मनुष्यत्व का अभिमान रखने वाले! तेरे लिए अन्य मार्ग नहीं है, नहीं है।'

रूढ़िया आदि अचल हैं, तो रहस्यदर्शको के स्वर मे शत-शत निर्झरो का
र वेग है, जीवन यदि विषम है, तो उनकी दृष्टि मे अनत आकाश का
मंजस्य है और धर्म यदि सकीर्ण है, तो उनके आत्मवाद मे समीर का
पक स्पर्श है।

इसी से प्रसिद्ध पश्चिमीय दार्शनिक शोपेनहार (Schopenhauer) कहता
—

'In the world there is no study so beneficial and so
vating as that of the Upanishads .. They are a product of
ghest wisdom .. It is destined sooner or later to become the
th of the people.'

(ससार मे उपनिषदो के समान उपयोगी और उदात्त बनाने वाला अन्य
ध्याय नही। वे उत्कृष्ट ज्ञान के परिणाम हैं। आगे या पीछे यही जनता
धर्म होगा, यह निश्चित है।)

हिंदी के रहस्यवाद के अथ के साथ हमे कबीर मे ऐसे क्रांति-दूत के
र्न होते हैं, जिसने जीवन के निम्नतम स्तर को ऊचाई बना लिया, अपनी
शक्षा को आलोक मे बदल दिया और अपने स्वर से वातावरण की जडता
शत-शत स्पदनो से भर दिया।

कबीर तथा अन्य रहस्यदर्शी सतो और सगुण भक्तो मे विशेष अतर है।
गुण उपासक यदि प्रशात स्निग्ध आभा फैलाने वाला नक्षत्र है, तो रहस्य-
ष्टा अपने पीछे आलोक पुज की प्रज्वलित लीक खीचने वाला उल्का-पिंड।
के की गति मे निश्चल स्थिति से हमारा चिर-परिचय है, अत हम इच्छानु-
र आखें ऊपर उठाकर देख भी सकते है और अनदेखा भी कर सकते हैं।
तु दूसरा हमारे दृष्टिपथ मे ऐसे आकस्मिक वेग के साथ आता है कि उसकी
योतिर्मय स्थिति, पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति के समान ही हमारी दृष्टि को
नात् खीच लेती है। उसके विद्युत-वेग को देखने का प्रश्न हमारी रुचि और
विधा की अपेक्षा नहीं करता। सगुण गायक हमारे साथ-साथ जीवन की रागिनी
नाता और पथ बताता हुआ चलता है। पर रहस्य का अन्वेषक कहो दूर अधकार
खडा होकर पुकारता है— चले आओ, थकना हार है, रुकना मृत्यु है।

युग के उपरात छायावाद के प्रतिनिधि कवियो ने भी इस विचारधारा
ा विद्युत्स्पर्श अनुभव किया और यह न कहना अन्याय होगा कि उन्होंने
स परपरा को अक्षुण्ण रखा। अनेक क्रूर विरोध और विवेकशून्य आघातो के
परात भी उनमे कोई दीनता नही, जीवन से उनका कोई सस्ता समझौता
हीं और कल्याण के लिए उनके निकट कोई अदेय मूल्य नही।

सभवत. पारस को छूकर सोना न होना लोहे के हाथ म नही रहता—
ारतीय तत्त्व-दर्शन ऐसा ही पारस रहा है ☐

गीति-काव्य

मनुष्य के सुख-दु:ख जिस प्रकार चिरंतन है, उनकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही चिरतन रही है; परतु यह कहना कठिन है कि उन्हें व्यक्त करने के साधनों में प्रथम कौन था ?

सभव है जिस प्रकार प्रभात की सुनहली रश्मि छूकर चिडिया आनद मे चहचहा उठती है और मेघ को घुमड़ता-घिरता देखकर मयूर नाच उठता है, उसी प्रकार मनुष्य ने भी पहले-पहले अपने भावों का प्रकाशन ध्वनि और गति द्वारा ही किया हो। विशेषकर स्वर-सामंजस्य मे बंधा हुआ गेय काव्य मनुष्य-हृदय के कितना निकट है, यह उदात्त-अनुदात्त स्वरो से बंधे वेदगीत तथा अपनी मधुरता के कारण प्राणो मे समा जाने वाले प्राकृत-पदो के अधिकारी हम भली भाति समझ सकते हैं।

प्राचीन हिंदी-साहित्य का भी अधिकांश गेय है। तुलसी का इष्ट के प्रति विनीत आत्म-निवेदन गेय है, कबीर का बुद्धिगम्य तत्त्वनिदर्शन सगीत की मधुरता मे बसा हुआ है, सूर के कृष्ण-जीवन का बिखरा इतिहास भी गीतमय है और मीरा की व्यथासक्ति पदावली तो सारे गीत-जगत् की सम्राज्ञी ही कही जाने योग्य है।

सुख-दु:ख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का, गिने-चुने शब्दो मे स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है। इसमे कवि को संयम की परिधि मे बधे हुए जिस भावातिरेक की आवश्यकता होती है वह सहज प्राप्य नहीं, कारण हम प्रायः भाव की अतिशयता मे कला की सीमा लाघ जाते हैं और उसके उपरात, भाव के सस्कारमात्र मे मर्मस्पर्शिता का शिथिल हो जाना अनिवार्य है। उदाहरणार्थ—दु:खातिरेक की अभिव्यक्ति आर्त्त क्रंदन या हाहाकार द्वारा भी हो सकती है जिसमे सयम का नितात अभाव है, उसकी अभिव्यक्ति नेत्रो के सजल हो जाने मे भी है जिसमे संयम की अधिकता के साथ आवेग के भी अपेक्षाकृत सयत हो जाने की संभावना रहती है, उसका प्रकाशन एक

दीर्घ नि श्वास मे भी है जिसमे सयम की पूर्णता भावातिरेक को पूर्ण नही रहने देती और उसका प्रकटीकरण नि स्तब्धता द्वारा भी हो सकता है जो निष्क्रिय बन जाती है।

वास्तव मे गीत के कवि को आर्त्त क्रदन के पीछे छिपे हुए भावातिरेक को, दीर्घ नि श्वास मे छिपे हुए सयम से बाधना होगा, तभी उसका गीत दूसरे के हृदय मे उसी भाव का उद्रेक करने मे सफल हो सकेगा।

गीत यदि दूसरे का इतिहास न रहकर वैयक्तिक सुख-दु ख ध्वनित कर सके, तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है, इसमे सदेह नही। मीरा के हृदय मे बैठी हुई नारी और विरहिणी के लिए भावातिरेक सहज प्राप्य था, उसके बाह्य राजरानीपन और आतरिक साधना मे संयम के लिए पर्याप्त अवकाश था। इसके अतिरिक्त वेदना भी आत्मानुभूति थी, अत. उसका 'हेली मैं तो प्रेम दिवाणी मेरा दरद न जाने कोय' सुनकर यदि हमारे हृदय का तार-तार, उस ध्वनि को दोहराने लगता है, रोम-रोम उनकी वेदना का स्पर्श कर लेता है तो यह कोई आश्चर्य की बात नही।

सूर का संयम भावो की कोमलता और भाषा की मधुरता के उपयुक्त ही है, परतु कथा इतनी पराई है कि हम बहने की इच्छामात्र लेकर उसे सुन सकते हैं, बहते नही और प्रात.स्मरणीय गोस्वामी जी के विनय के पद तो आकाश की मदाकिनी कहे जा सकते हैं, हमारी कभी गंदली, कभी स्वच्छ वेगवती सरिता नही। मनुष्य की चिरतन अपूर्णता का ध्यान कर उनके पूर्ण इष्ट के सम्मुख हमारा मस्तक श्रद्धा से, विनय से नत हो जाता है, परतु प्रायः हृदय कातर क्रदन नही कर उठता। इसके विपरीत, कबीर के रहस्य-भरे पद हमारे हृदय को स्पर्श कर सीधे बुद्धि से टकराते हैं। अधिकतर हममे उनके विचार ध्वनित हो उठते हैं, भाव नही, जो गीत का लक्ष्य है।

व्यक्तिप्रधान भावात्मक काव्य का वही अश अधिक से अधिक अतस्तल मे समा जाने वाला, अनेक भूले सुख-दु खो की स्मृतियो मे प्रतिध्वनित हो उठने के उपयुक्त और जीवन के लिए कोमलतम स्पर्श के समान होगा, जिसमे कवि ने गतिमय आत्मानुभूत भावातिरेक को सयत रूप मे व्यक्त कर उसे अमर कर दिया हो या जिसे व्यक्त करते समय वह अपनी साधना द्वारा किसी बीते क्षण की अनुभूति की पुनरावृत्ति करने मे सफल हो सका हो। केवल सस्कारमात्र भावात्मक कविता के लिए सफल साधन नही है और न किसी बीती अनुभूति की उतनी ही तीव्र मानसिक पुनरावृत्ति ही सबके लिए सब अवस्थाओ मे सुलभ मानी जा सकती है।

हिंदी-काव्य का वर्तमान नवीन युग गीतप्रधान ही कहा जाएगा। हमारा व्यस्त और व्यक्तिप्रधान जीवन हमे काव्य के किसी और अग की ओर दृष्टिपात

करने का अवकाश ही नही देना चाहता। आज हमारा हृदय ही हमारे लिए ससार है। हम अपनी प्रत्येक सांस का इतिहास लिख रखना चाहते हैं, अपने प्रत्येक कपन को अंकित करने के लिए उत्सुक है और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पा लेने के लिए विकल हैं। संभव है, यह उस युग की प्रतिक्रिया हो, जिसमे कवि का आदर्श अपने विषय मे कुछ न रहकर संसार-भर का इतिहास कहना था, हृदय की उपेक्षा कर शरीर को आदृत करना था।

इस युग के गीतो की एकरूपता मे भी ऐसी विविधता है, जो उन्हें बहुत काल तक सुरक्षित रख सकेगी। इसमें कुछ गीत मलय समीर के झोके के समान हमें वाहर से स्पर्श कर अतर तक सिहरा देते हैं, कुछ अपने दर्शन से बोझिल पंखो को, हमारे जीवन को सब ओर से छू लेना चाहते हैं, कुछ किसी अलक्ष्य डाली पर छिपकर बैठी हुई कोकिल के समान हमारे ही किसी भूले स्वप्न की कथा कहते रहते हैं और कुछ मंदिर के पूत धूप-धूम के समान हमारी दृष्टि को धुधला, परंतु मन को सुरक्षित किए बिना नही रहते।

काव्य की ऊची-ऊंची हिमालय-श्रेणियों के बीच मे गीतिमुक्तक एक सजल कोमल मेघखंड है, जो न उनसे दबकर टूटता और न बधकर रुकता है, प्रत्युत हर किरण से रंगस्नात होकर उन्नत चोटियों का शृंगार कर आता है और हर एक झोंके पर उड-उडकर उस विशालता के कोने-कोने मे अपना स्पदन पहुचाता है।

साधारणतः गीत वैयक्तिक अनुभूति पर इतना आश्रित है कि कथा-गीत और नीति-पद तक अपनी संवेदनीयता के लिए, व्यक्ति की भावभूमि की अपेक्षा रखते हैं। अलौकिक आत्मसमर्पण हो या लौकिक स्नेह-निवेदन, तात्कालिक उल्लास-विषाद हो या शाश्वत् सुख-दु खों का अभिव्यजन, प्रकृति का सौंदर्य-दर्शन हो या उस सौंदर्य में चैतन्य का अभिनदन, सबमें गेयता के लिए हृदय अपनी वाणी मे समार-कथा कहता चलता है। संसार के सुख से हृदय की कथा, इतिहास अधिक है, गीत कम।

आज हम ऐसे बौद्धिक युग में से जा रहे हैं, जो हृदय को मासल यत्र और उसकी कथा को वैज्ञानिक आविष्कारों की पद्धति मात्र समझता है, फलतः गीत की स्थिति कठिन से कठिनतर होती जा रही है।

गेयता में ज्ञान का क्या स्थान है, यह भी प्रश्न है। बुद्धि के तर्क-क्रम से जिस ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है, उसका भार गीत नही सभाल सकता; पर तर्क से परे इंद्रियों की सहायता के बिना भी हमारी आत्मा अनायास ही जिस सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेती है, उसकी अभिव्यक्ति मे गेय स्वर-सामजस्य का विशेष महत्त्व रहा है। वेद-गीतों के विश्वचिंतन से संतों के जीवन-दर्शन तक फैली हुई हमारी गीत-परपरा इस आत्मानुभूत ज्ञान की आभारी है। पर

यह आत्मानुभूत ज्ञान आत्मा के सस्कार और व्यक्तिगत साधना पर इतना निर्भर है कि इसकी पूर्ण प्राप्ति और सफल अभिव्यक्ति सबके लिए सहज नही। इसी कारण वेदकालीन मनीषियो का आत्मानुभूत ज्ञान और उसकी सामञ्जस्यपूर्ण अभिव्यक्ति सब युगो मे सभव न हो सकी।

रहस्य-गीतो का मूलाधार भी आत्मानुभूत अखड चेतना है, पर वह साधक की मिलन-विरह की मार्मिक अनुभूतियो मे इस प्रकार घुल-मिल सका कि उसकी अलौकिक स्थिति भी लोक-सामान्य हो गई। भावो के अनत वैभव के साथ ज्ञान की अखड व्यापकता की स्थिति वैसी ही है जैसी, कही रगीन, कही सितासित, कही सघन, कही हल्के, कही चादनीधौत और कही अश्रुस्नात बादलो से छाए आकाश की होती है। व्यक्ति अपनी दृष्टि को उस अनत रूपात्मकता के किसी भी खड पर ठहराकर आकाश पर भी ठहरा लेता है। अत आनद और विषाद की मर्मानुभूति के साथ-साथ, उसे एक अव्यक्त और व्यापक चेतन का स्पर्श भी मिलता रहता है। पर ऐसे गीतो मे निर्गुण ज्ञान और सगुण अनुभूति का जैसा सतुलन अपेक्षित है, वैसा अन्य गीतो मे आवश्यक नही, क्योकि आधार यदि बहुत प्रत्यक्ष हो उठे, तो बुद्धि उसे अपनी परिधि से बाहर न जाने देगी और भाव यदि अव्यक्त सूक्ष्म हो जावे, तो हृदय उसे अपनी सीमा मे न रख सकेगा। रहस्य-गीतो मे आनद की अभिव्यक्ति के सहारे ही हम चित् और सत् तक पहुचते हैं।

सगुणोन्मुख गीतो मे सत्-चित् की रूप-प्रतिष्ठा के द्वारा ही आनद की अभिव्यक्ति सभव हो सकती है, इसी से कवि को बहुत अतर्मुखी नही होना पडता। यह रूपाधार के परिचय द्वारा हृदय के मर्म तक पहुचने का सहज मार्ग पा लेता है। सगुण गायक अनेक रग लेकर एक सीमित चित्रफलक को रगता है, अत वह उस निर्गुण गायक से भिन्न रहेगा, जिसके पास रग एक और चित्रपट शून्य असीम है। एक की निपुणता रगो के अभिनव चटकीलेपन पर निर्भर है और दूसरे की, रेखाओ की चिर नवीन अनतता पर। भक्त यदि जीवनदर्शी है, तो उसके गीत की सीमित लौकिकता से असीम अलौकिकता वैसे ही बधी रहेगी, जैसे दीप की लौ से आलोक-मडल, और यदि रहस्यद्रष्टा तन्मय आत्म-निवेदक है, तो उसके गीत की अलौकिक असीमता से, लौकिक सीमाए वैसे ही फूटती रहेंगी, जैसे अनत समुद्र मे हिलोरें।

वास्तव मे सगुण-गीत मे जीवन की विस्तृत कथात्मकता के लिए भी इतना स्थान है कि वह लोक-गीत के निकट आ जाता है। लोक-गीत की सुलभ इतिवृत्तात्मकता का इसे कम भय है और उसकी भावो की अतिसाधारणता का खटका भी अधिक नही, पर उसकी सरल सवेदनीयता की सब सीमाओ तक उसकी पहुच रहती है। हमारी गीत-परपरा विविधरूपी है, पर उसका वही रूप

पूर्णतम है, जो भावभूमि का सच्चा स्पर्श पा सकता है। गीत का चिरंतन विषय रागात्मिका वृत्ति से संबंध रखनेवाली सुख-दुखात्मक अनुभूति ही रहेगी। परंतु अनुभूति मात्र गीत नहीं, क्योंकि गेयता तो अभिव्यक्ति-सापेक्ष है। साधारणतः गीत व्यक्ति सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।

पिछली दुःख-रागिनी का वायुमंडल और आज की दुःख-कथा का धरातल भी ध्यान देने योग्य है। बाह्य संसार की कठोर सीमाओं और अंतर्जगत् की असीमता की अनुभूति ने उस दुःख को एक अंतर्मुखी स्थिति दे दी थी। ऐसा दुःख प्रायः जीवन के आंतरिक सामंजस्य की प्राप्ति का लक्ष्य लेकर चलता है। फलतः उसकी संवेदनीयता में गति की वैसी ही मर्मस्पर्शिता रहती है, जिसे कालिदास ने—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दा-
न्पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तु.। ''

आदि के द्वारा व्यक्त किया है और वैसी ही व्यापकता मिलती है, जिसकी ओर भवभूति ने 'एको रस करुण एव निमित्तभेदात्' कहकर संकेत किया है। ऐसी वेदना को दूसरे के निकट संवेदनीय बनाने के लिए अपने हृदय की अतल गहराई की अनुभूति आवश्यक है और उसे व्यापकता देने के लिए जीवन की एकता का भावन।

आज के दुःख का संबंध जीवन के स्थूल धरातल की विषमता से रहता है, अतः समष्टि को आर्थिक आधार पर बाह्य सामंजस्य देने का आग्रह, इसकी विशेषता है। इस धरातल पर यह सहज नहीं कि एक की असुविधा की अनुभूति दूसरे में वैसी ही प्रतिध्वनि उत्पन्न कर सके। जिन क्षणों में भोजन की इच्छा नहीं, उनमें एक व्यक्ति के लिए अन्य दुःख, चिंता आदि की अनुभूति जैसी सहज है, वैसी भूख की व्यथा की नहीं। परंतु उन्हीं परिस्थितियों में यह अनुभूति तब स्वाभाविक हो जाएगी, जब वह दूसरे बुभुक्षित से सच्चा तादात्म्य प्राप्त कर सके। आंखों से दूर बाहर गाने वाले की करुण रागिनी हममें प्रतिध्वनित होकर एक अव्यक्त वेदना जगा सकती है, परंतु प्रत्यक्ष ठिठुरते हुए नग्न भिखारी का दुःख तब तक हमारा न हो सकेगा, जब तक हमारा उससे वास्तविक तादात्म्य न हो जावे। व्यावहारिक जीवन में भी हमारे भौतिक अभाव उन्हीं को अधिक स्पर्श करते हैं, जो हमारे निकट होते हैं; जो दूरत्व के कारण ऐसे तादात्म्य की शक्ति नहीं रखते, उनके निकट हमारी पार्थिव असुविधाओं का मूल्य नहीं।

लक्ष्यतः एक होने पर भी अंतर्जगत् के नियम को भौतिक जगत् नहीं करता। उनमें हमें अपनी गहराई में दूसरों को खोजना पड़ता है और इ

पूर्णतम है, जो भावभूमि का सच्चा स्पर्श पा सकता है। गीत का चिरंतन विषय रागात्मिका वृत्ति से संबंध रखनेवाली सुख-दुःखात्मक अनुभूति ही रहेगी। परंतु अनुभूति मात्र गीत नहीं, क्योंकि गेयता तो अभिव्यक्ति-सापेक्ष है। साधारणतः गीत व्यक्ति सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।

पिछली दुःख-रागिनी का वायुमंडल और आज की दुःख-कथा का धरातल भी ध्यान देने योग्य है। बाह्य संसार की कठोर सीमाओं और अंतर्जगत् की असीमता की अनुभूति ने उस दुःख को एक अंतर्मुखी स्थिति दे दी थी। ऐसा दुःख प्रायः जीवन के आंतरिक सामंजस्य की प्राप्ति का लक्ष्य लेकर चलता है। फलतः उसकी संवेदनीयता में गति की वैसी ही मर्मस्पर्शिता रहती है, जिसे कालिदास ने—

> रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दा-
> न्पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।..

आदि के द्वारा व्यक्त किया है और वैसी ही व्यापकता मिलती है, जिसकी ओर भवभूति ने 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्' कहकर संकेत किया है। ऐसी वेदना को दूसरे के निकट संवेदनीय बनाने के लिए अपने हृदय की अतल गहराई की अनुभूति आवश्यक है और उसे व्यापकता देने के लिए जीवन की एकता का भावन।

आज के दुःख का संबंध जीवन के स्थूल धरातल की विषमता से रहता है, अतः समष्टि को आर्थिक आधार पर बाह्य सामंजस्य देने का आग्रह, इसकी विशेषता है। इस धरातल पर यह सहज नहीं कि एक की असुविधा की अनुभूति दूसरे में वैसी ही प्रतिध्वनि उत्पन्न कर सके। जिन क्षणों में भोजन की इच्छा नहीं, उनमें एक व्यक्ति के लिए अन्य दुःख, चिंता आदि की अनुभूति जैसी सहज है, वैसी भूख की व्यथा की नहीं। परंतु उन्हीं परिस्थितियों में यह अनुभूति तब स्वाभाविक हो जाएगी, जब वह दूसरे बुभुक्षित से सच्चा तादात्म्य प्राप्त कर सके। आंखों से दूर बाहर गाने वाले की करुण रागिनी हममें प्रतिध्वनित होकर एक अव्यक्त वेदना जगा सकती है, परंतु प्रत्यक्ष ठिठुरते हुए नग्न भिखारी का दुःख तब तक हमारा न हो सकेगा, जब तक हमारा उससे वास्तविक तादात्म्य न हो जावे। व्यावहारिक जीवन में भी हमारे भौतिक अभाव उन्हीं को अधिक स्पर्श करते हैं, जो हमारे निकट होते हैं; जो दूरत्व के कारण ऐसे तादात्म्य को संभव नहीं रखते, उनके निकट हमारी पार्थिव असुविधाओं का विशेष मूल्य नहीं।

लक्ष्यतः एक होने पर भी अंतर्जगत् के नियम को भौतिक जगत् नहीं स्वीकार करता। उसमें हमें अपनी गहराई में दूसरों को खोजना पड़ता है और इसमें दूसरों

की अनेकता मे अपने आपको खो देना। दूसरे की आखें भर लाने के लिए हमे अपने आसुओ मे डूब जाने की आवश्यकता रहती है, परतु दूसरे के डबडबाये हुये नेत्रो की भाषा समझने के लिए हमे अपने सुख की स्थिति को, दूसरे के दुख मे डुबा देना होगा। जब एक व्यक्ति दूसरे के दुख मे अपने दुख को मिलाकर बोलता है, तब उसके कठ मे दो का बल होगा, जब तीसरा उन दोनो के दुख म अपना दुख मिलाकर बोलता है, तब उसके कठ मे तीन का बल होगा और इसी क्रम से जो असख्य व्यक्तियो के दुख म अपना दुख खोकर बोलता है, उसके कठ मे असीम बल रहना अनिवार्य है।

अतर्जगत मे यह व्यापकता गहराई का रूप लेकर व्यष्टि से समष्टि तक पहुचती है। सफल गायक वही है जिसके गीत मे सामान्यता हो, अर्थात् जिसकी भावतीव्रता मे दूसरो को अपने सुख-दुखा की प्रतिध्वनि सुन पडे और यह तब स्वत सभव है, जब गायक अपने सुख दुखो की गहराई मे डूबकर या दूसरे के उल्लास विषाद से सच्चा तादात्म्य कर गाता है।

भारतीय गीति परपरा आरभ मे ही बहुत समृद्ध रही, अत उसका प्रभाव सब युगो के गीतो को विविधता देता रह सका। ऐसा गीति साहित्य जिसमे सूक्ष्म ज्ञान का असीम विस्तार, प्रकृति रूपो की अनतता और भाव का बहुरगी जगत् सभाला हो, आगत काव्य-युगा पर प्रभाव डाले बिना नही रहता।

तत्त्व की छाया और भाव की धरती पर विकास पाने के कारण यहा वाणी को बहुत परिष्कृत रूप और जीवन का निश्चित स्पदन मिल सका। इसी से उच्चारण मे एक वर्ण की भूल अक्षम्य और ध्वनि मे एक कपन की त्रुटि असह्य हो उठती थी।

पावका न सरस्वती वाजे वाजिनवती

महो अर्णं सरस्वती प्रचतयति केतुना
ऋग्वेद १-३-१०, १२

(हमारी वाणी पवित्र करने वाली और ऐश्वर्यमती है। यह सरस्वती ज्ञान के महासागर तक पहुचाने म समर्थ है।)

यही पवित्रता अधिक सूक्ष्म रूप म शब्द को ब्रह्म की सज्ञा तक पहुचाने मे सहायक हुई। गीत की शक्ति वाणी से अधिक थी, क्योकि वह शब्दो के चयन को लय म सतरण देकर उनकी व्यापकता और बढा देता था। इसी से पूरा सामगान जीवन-समुद्र पर लय का लहराता हुआ पात बन जाता है। ऋग्वेद का मनीषी गाता है—

'गीर्भि वरुण सीमहि' (हे मेरे वरणीय! मैं गीत से तुम्हे बाधना हू) इतना

ही नहीं, गीत गायक के प्रभु को भी प्रिय है—

सेम नः स्तोमया गह्य् पेद सवनं सुतम
गौरो न तृषित पिव ।

ऋ० १-१६-५

(प्यासा और मृग जैसे जलाशय से जल पीता है, वैसे ही तुम मेरे गीत में तन्मय होकर तृप्ति का अनुभव करो।)

तत्त्व की सरल व्याख्या, प्रकृति की रूपात्मकता, सौंदर्य और शक्ति की सजीव साकारता, लौकिक जीवन के आकर्षक चित्र आदि इन गीतों को बहुत समृद्ध कर देते हैं। चिंतन के अधिक विकास ने गीत के स्थान मे गद्य को प्रधानता दी, पर गीत का क्रम लोक-जीवन को घेरकर विविध रूपो मे फैलता रहा।

बौद्ध धर्म जीवन की विपमता मे उत्पन्न है, अत. दुःख-निवृत्ति के अन्वेषको के समान वह भाव के प्रति अधिक निर्मम रहा, पर उसकी विशाल करुणासिक्त पृथ्वी पर जो गीत के फूल खिले, वे जीवन से सुरभित और दुःख के नीहारकणों से बोझिल हैं। वैयक्तिक विरागभरी थेरगाथाएं और सौंदर्य की करुण कथाएं कहने वाली थेरीगाथाएं, अपनी भाषा और भाव के कारण वेद-गीत और काव्य-गीतों के बीच की कड़ी लगती हैं।

विशेषतः निवृत्ति प्रधान गाथाओ से वैराग्य-गीतो को बहुत प्रेरणा मिल सकी। इन वीतराग भिक्षुओ का विहग, वन, पर्वत आदि के प्रति प्रशांत अनुराग वेदकालीन प्रकृति-प्रेम का सहोदर है।

सुनीला सुसिखा सुपेखुणा सचित्तपत्तच्छदना विहङ्गमा,
समञ्जुघोसत्थ निताभिगज्जिनो ते तं रमिस्सन्ति वनम्हि झायिनं।

थेरगाथा, ११३६

(जब तुम वन मे ध्यानस्थ बैठे होगे तब गहरी नीली ग्रीवावाले सुदर शिखा-शोभी तथा शोभन चित्रित पंखो से युक्त आकाशचारी विहंगम अपने सुमधुर कलरव द्वारा, घोषभरे मेघ का अभिनदन करते हुए तुम्हें आनद देंगे।)

यदा बलाका सुचिपण्डरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता,
पलेहिति आलयमालयेसिनी तदा नदी आजकरणी रमेति मं।

थेर० ३०७

[जब ऊपर (आकाश मे) श्याम घनघटा से सभीत बगुलो की पांत अपने उज्ज्वल श्वेत पख फैलाकर आश्रय खोजती हुई बसेरे की ओर उड चलती है, तब (नीचे उनका प्रतिबिंब लेकर प्रवाहित) अजकरणी नदी मेरे हृदय में प्रसन्नता भर देती है।]

अंगारिनो दानि दुमा भदन्ते फलेसिनो छदनं विप्पहाय,
ते अच्चिमन्तो व पभासयन्ति समयो महावीर भगीरसानं।

दुमानि फुल्लानि मनोरमानि समन्ततो सब्बदिसो पवन्ति,
पत्त पहाय फलमाससाना कालो इतो पक्कमनाय वीर।
थेर० ५२७-२८

(नयी कोपलो से अगारारुण वृक्षो ने फल की साध से जीर्ण-शीर्ण पल्लव-परिधान त्याग दिया है। अब वे लो से युक्त जैसे उद्भासित हो रहे है। हे वीरश्रेष्ठ! हे तथागत! यह समय नूतन आशा से स्पदित है।

द्रुमाली फूलो के भार से लदी है, सब दिशाए सौरभ से उच्छ्वसित हो उठी हैं और फल को स्थान देने के लिए दल झड रहे है। हे वीर! यह हमारी यात्रा का मगल मुहूर्त है।

भिक्षुणिया भी अपने नश्वर सौंदर्य का परिचय देने के लिए प्रकृति को माध्यम बनाती हैं ··

कालका भमरवण्णसदिसा वेल्लितग्गा मम मुद्धजा अहु,
ते जराय सालवाक सदिसा सच्चवादि वचन अनञ्ञथा।
काननम्हि वनखण्डचरिणी कोकिला व मधुर निकूजित,
त जराय खलित र्ताहि-र्ताहि सच्चिवादि वचन अनञ्ञथा।

थेरगाथा २५२-६१

[भ्रमरावली के समान सुचिक्कण काले और घुघराले मेरे अलक गुच्छ जरा के कारण आज सन और वल्कल जैसे हो गए है। (परिवर्तन का चक्र इसी क्रम से चलता है) सत्यवादी का यह वचन मिथ्या नही।

वनखड मे सचरण करती हुई कोकिला की कुहुक के समान मधुर मेरे स्वर का सगीत आज जरा के कारण टूट-टूटकर बेसुरा हो रहा है। (ध्वस का क्रम इसी प्रकार चलता है) सत्यवादी का यह कथन अन्यथा नही।]

सस्कृत-काव्य मे क्रौंच की व्यथा से करुणार्द्र ऋषि गा नही उठा, जीवन के तार सभालने लगा और इस प्रकार कुछ समय तक रागिनी मूक रहकर तारो की झकार सुनती रही। पर काव्य का राग जब मौन हो जाता है, तब लोक उस लय को सभाल लेता है, इसी से गीत की स्थिति अनिश्चित नही हो सकती। सस्कृत नाटको और प्राकृत काव्यों म जो गीत हैं, वे तत्कालीन लोकगीत ही कहे जाएगे। यह प्राकृत-गीत लोक की भाषा और सरस मधुर शब्दावली के द्वारा प्रकृति और जीवन के बडे सुदर चित्र अकित कर सके हैं।

भाव की मार्मिकता तथा अभिव्यक्ति की सरल शैली की दृष्टि से हिंदी गीतिकाव्य प्राकृत-गीतो का बहुत आभारी है—

एक्कक्कमपरिक्खणपहार समुहे कुरङ्गमिहुणम्मि।
वाहेण मण्णुविअलन्तवाह धोअ धणु मुक्कम् ॥
गाथासप्तशती ७-१

(मृग-मृगी के जोड़े में से जब प्रत्येक दूसरे को बाण से बचाने के लिए लक्ष्य के सामने आने लगा, तब करुणार्द्र व्याध ने आंसुओं से धुला धनुष रख दिया।)

खरपवणरअगलत्थिअ गिरि ऊडावडणभिण्णदेहस्स।
धुक्काधुक्कईजीअं व विज्जुआ कालमेहस्स ॥
गाथा० ६-८३

(जब प्रचड पवन ने उसे गला पकडकर पर्वतशिखर से नीचे फेंक दिया, तब छिन्न-भिन्न शरीर वाले काले मेघ के भीतर विद्युत् प्राण के समान धुकधुका उठी।)

उअ णिच्चलणिप्पन्दा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।
णिम्मल मरगअ भाअण परिट्ठिआ सख-सुत्ति व्व ॥
गाथा० १-५

[देखो, कमल के पत्र पर बलाका (बकी) कैसी निश्चिल नि.स्पंद बैठी है। वह तो निर्मल मरकत के पात्र मे रखी हुई शखशुक्ति जैसी लगती है।]

इस प्रकार के, कही करुण, कहीं सजीव और कही सुदर चित्रो की सरल मार्मिकता ने हमारे लोक-गीतो पर ही नही, पद-साहित्य पर भी अपनी छाया डाली है।

हिंदी गीति-काव्य मे भारतीय गीति-परंपरा की मूल प्रवृत्तियों का आ जाना स्वाभाविक था। तत्त्व-चिंतन और उससे उत्पन्न रहस्यानुभूति, प्रकृति और मनुष्य का सौंदर्य-दर्शन, स्वानुभूत सुख-दु खों की चित्रमय अभिव्यक्ति आदि ने इन गीतो को विविधता भी दी ह और व्यापकता भी।

कबीर के निर्गुण-गीतों ने ज्ञान को फिर गेयता देने का प्रयास किया है।

'मैं तें तें मैं ए द्वै नाही। आपै अघट सकल घट माही।' जैसे पदो में वेदात मुखरित हो उठा है और—

'गगन-मडल रवि ससि दोई तारा। उलटी कूची लागि किवारा।' आदि चित्रो मे साधनात्मक योग की रूप-रेखाए अकित हैं।

रूपक-पद्धति के सहारे जीवन रहस्यो का उद्घाटन भी हमारे तत्त्व-चिंतन मे बहुत विकसित रूप पा चुका था।

कबीर की

पाच सखी मिलि कीन्ह रसोई एक ते एक सयानी,
दूनो थार बराबर परसे जेवे मुनि अरु ज्ञानी ॥

आदि पक्तियों मे व्यक्त रूपक-पद्धति का इतिहास कितना पुराना है, यह तब प्रकट होता है, जब हम उन्हें अथर्व के निम्न रूपक के साथ रखकर देखते हैं—

तन्त्रमेक युवती विरूपे अभ्याक्राम वयतः षण्मयूखम।

प्रान्या तन्तूस्तिरित धत्ते अन्या नापवञ्जाते न गमातो अतम् ॥

[दो गोर श्याम युवतिया (उपा-रात्रि) क्रम से बार-बार आ-जाकर छ खूंटी वाले (ऋतुओ वाले) जाल को (विश्व रूप को) बुनती है। एक सूत्रो को (किरणो को) फैलाती है, दूसरी गाठती (अपने मे समेट लेती) है, वे कभी विश्राम नही करती, पर तो भी कार्य की समाप्ति तक नही पहुच पाती।]

निर्गुण-उपासक तत्त्व-द्रष्टा ही नही, तत्त्व-रूप का अनुरागी भी है, अत उसका मिलन-विरह समस्त विश्व का उल्लास-विषाद बन जाता है। प्रकृति यहा एक परम तत्त्व की अभिव्यक्ति है। अत उसके सौंदर्य मे सौरभ जैसा स्पर्श है, जो प्रत्येक का होकर भी किसी एक का नही बन सकता और भाव मे आलोक जैसा रग है, जो किसी वस्तु पर पडकर उससे भिन्न नही रहता।

निर्गुण-गायक अपने सुख-दु खो की अनुभूति को विस्तार देकर सामान्य बनाता है और सगुण गायक अपने सुख-दु खो को गहराई देकर उन्हे सबका बनाता है। एक ज्ञान के लिए हृदयवादी है, दूसरा भाव के लिए रूपवादी।

सगुण-गीतो का आधार सौंदर्य और शक्ति की पूर्णतम अभिव्यक्ति होने के कारण प्रकृति और जीवन का केंद्र-बिंदु बन गया है, अत भावो की सबलता और रूपो की विविधता उसे घेरकर ही सफल हो सकती है। संस्कृत काव्यो के समान ही, इन चित्र और भावगीतो म प्रकृति विविध-रूपी है। कही वह अपनी स्वतत्र रूपरेखा मे यथार्थ है, कही हृदय के हर स्वर मे स्वर मिलाने वाली रहस्यमयी सगिनी है, कही मनुष्य के स्वानुभूत सुख-दुखो की मात्रा बनाने का साधन है और कही आराध्य के सौंदर्य, शक्ति आदि की छाया है।

बरसत मेघवर्त धरनी पर
चपला चमकि चमकि चकचौंधति करति सबद आघात,
अन्धाधुन्ध पवनवर्तक मन करत फिरत उत्पात।
—सूर

उपर्युक्त गीत मे मेघ की चित्रमयता यथार्थ है, पर जब घटा देखकर विरह-व्यथित मीरा पुकार उठती है—

मतवारो बादल आयो रे,
मेरे पी को सदेसो नहिं लायो रे।

तब हमे बादल की वही सजीव पर रहस्यमयी साकारता मिलती है, जो मेघदूत के मेघ मे यक्ष ने पाई थी। 'निसिदिन बरसत नयन हमारे' म वर्षा, रुदन की चित्रमय व्याख्या बनकर उपस्थित होती है और 'आजु घन स्याम की अनुहारि' जैसी पक्तियो मे मेघ कृष्ण की छाया मे उद्भासित हो कृष्ण जैसा बन गया है। स्वानुभूति प्रधान इन गीतो न हृदयगत मर्म को चित्रमयता और बाह्य प्रकृति-

रूपों को व्यापकता दी है।

इनकी स्वरलहरी हमारे जीवन के विस्तार और गहराई में कितने स्थायी रूप में बस गई है, इसका परिचय काव्य-गीत और लोकगीत दोनो देते हैं।

भारतेंदु-युग हमारे साहित्य का ऐसा वर्षाकाल है, जिसमें सभी प्रवृत्तियां अकुरित हो उठी हैं, अत. गीत भी किसी भूली रागिनी के समान मिल जाते हैं तो आश्चर्य नही। ये गीत स्वतत्र अस्तित्व न रखकर गद्य-रचनाओ के बीच मे आये हैं, इसलिए विषय, भाव आदि की दृष्टि से इनका कुछ बधा हुआ होना स्वाभाविक है, पर इनमें कुछ प्रवृत्तिया ऐसी मिलेंगी जो अतीत और वर्तमान गीति-मुक्तकों को जोडने मे समर्थ हैं। प्रकृति के सहज चित्र, यथार्थ की गाथा, राष्ट्रीय उद्बोधन और सामाजिक धार्मिक विकृतियो के प्रति व्यंग, भारतेंदु के गीतो को विविधता देते हैं।

भई आधि राति वन सनसनात,
पथ पछी कोउ आवत न जात,
जग प्रकृति भई जनु थिर लखात,
पातहु नहिं पावत तरुन हलन।

उपर्युक्त पंक्तियो मे रात की रेखाओ मे निःस्तब्धता का रग है; पर जहा कवि ने प्रकृति के सबंध मे परपरा का अनुसरण मात्र करना चाहा, वहा वह सजीव स्पदन खो गया-सा जान पडता है—

अहो कुञ्ज वन लता विरुध तृन पूछत तोसों,
तुम देखे कहुँ स्याम मनोहर कहहु न मोसो।

भाव-गीतो मे सगुण-निर्गुण गीतों की शैली ही नही, कल्पना का भी प्रभाव है—

मरम की पीर न जानत कोय।
...   .
नैनन मे पुतरी करि राखौं पलकन ओटि दुराय,
हियरे मे मनहूँ के अतर कैसे लेउँ लुकाय।

तत्कालीन जीवन और समाज की विषमता की अनुभूति और प्राचीन समृद्धि के ज्ञान ने व्यगमय यथार्थ-चित्रो और विषादभरे राष्ट्र-गीतों को प्रेरणा दी है—

घन गरजैं जल बरसैं इन पर विपत्ति परै किन आई,
ये बजमारे तनिक न चौंकत ऐसी जडता छाई।
...   .
भारत जननी जिय क्यो उदास,
बैठी इकली कोउ नाहिं पास।

किन देखहु यह उह ऋतुपति प्रकाश,
फूली सरसो वन करि उजास ।

पृथ्वी की मातृरूप मे कल्पना हमारे बहुत पुराने सस्कार से सबध रखती है। अथर्व का पृथ्वीगीत चित्रमय और यथार्थ होने के साथ-साथ मातृवदना भी है—

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोरण्य ते पृथिविस्योनमस्तु ।
... ...
पवस्य माता भूमिः पुत्रो अह पृथिव्या ।

(ये तेरे पर्वत और तुषार से आच्छादित तुग शिखर, ये तेरे वन हमारे लिए सुखकर हो। हे मातृ-भू ! तू मुझे पवित्र कर, मैं पृथिवी का पुत्र हू।)

खडी बोली के आरभ मे जीवन, प्रकृति, नीति, राष्ट्र आदि पर आश्रित मुक्तक लिखे गये, परतु उनमे गेयता के लिए स्थान कम था। वास्तव मे गीत सरल मधुर, परिचित और प्रयोग से मजी हुई शब्दावली से आकार और भावतीव्रता से आत्मा चाहता है और किसी भाषा के आदियुग मे गीत सरल और प्राण को सामजस्यपूर्ण स्थिति न मिलने के कारण उसका विकास कठिन हो जाता है। गीत अपनी धरती और आकाश से इस प्रकार बधा है कि कुशल से कुशल गायक भी विदेशी भाषा मे गा नही पाता।

खडी बोली ने गीत हमे प्रबध-काव्यो मे तब प्राप्त हुए, जब उससे हमारा हृदय परिचित हो चुका था, भाषा मज चुकी थी और भाव शब्द पर तुल चुका था। शुद्ध सस्कृत शब्दावली उसके वर्णवृत्त अपनाने वाले कवियो पर सस्कृत-काव्यो का प्रभाव होना अनिवार्य ही था। रीतियुग के चमत्कार से सहानुभूति न रखने के कारण इन कवियो ने सस्कृत काव्यो की वह शैली अपनायी जिसमे प्रकृति की रेखाए स्पष्ट, सरल और जीवन के रग जाने-पहचाने से लगते हैं। 'साकेत' मे चित्रकूट की वनवासिनी सीता—

किसलय-कर स्वागत हेतु हिला करते हैं।
... ...
तृण तृण पर मुक्ता-भार झिला करते हैं।

गाकर प्रकृति का जो शब्द-चित्र उपस्थित करती है, उसकी रेखा-रेखा हमारी जानी-बूझी है। इस प्रकार विरहिणी उर्मिला—

न जा अधीर धूल मे,
दृगम्बु आ दुकूल मे ?
... ...
तुम्हारे हँसने में है फूल हमारे रोने मे मोती !

आदि में अपनी व्यथा की जो ध्वनिमय साकारता देती है, उसके भी हमारा

पुरातन परिचय है। यशोधरा के मर्म-गीत ही नहीं, कवि के रहस्य-गीत भी सरल शब्दावली और परिचित भावों के कारण इतने ही निकट जान पड़ते हैं। इनमें तीव्र भावावेग नहीं, जीवन का स्वाभाविक उच्छ्वास है, कभी-कभी अतिपरिचय से साधारण बन जाता है।

छायावाद व्यथा का सवेरा है, अतः उसके प्रभाती गीतों की सुनहली आभा पर आंसुओं की नमी है। स्वानुभूति को प्रधानता देने वाले इन सुख-दुःख-भरे गीतों के पीछे भी इतिहास है। जीवन व्यस्त तो बहुत था, पर उनके कर्माडंबर में सृजन का कोई क्रम न मिलता था। समाज-संस्कृति संबंधी आदर्शों और विश्वासों को एक पग में नापने के लिए, जिज्ञासा वामन से विराट् हुई जा रही थी। बहुत दिनों से शरीर का शासन सहते-सहते हृदय विद्रोही हो उठा था। नवीन सभ्यता हमें प्रकृति से इतनी दूर ले आई थी कि पुराना रूप-दर्शन-जनित संस्कार खोई वस्तु की स्मृति के समान बार-बार कसक उठता था। राष्ट्रीयता की चर्चा और समय की आवश्यकता ने हमें पिछला इतिहास देखने के लिए अवसर दे दिया था। भारतेंदु-युग की विषादभरी ध्वनि—

'अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा' ने असंख्य प्रतिध्वनियां जगाकर हमें अंतिम बार अपने जीवन की सूक्ष्म और व्यापक शक्ति की परीक्षा करने के लिए विवश कर दिया था।

आनंद से मनुष्य जब चंचल होता है तब भी गाता है, और व्यथा से जब हृदय भारी हो जाता है, तब भी गाता है, क्योंकि एक उसके हर्ष को बाहर फैलाकर जीवन को संतुलन देता है और दूसरा उसकी निस्तब्धता में संवेदन की लहर पर लहर उठाकर जीवन को गतिरुद्ध होने से बचाता है।

गत महायुद्ध की तमसा के विषाद-भरे प्रभात में रुधिर से गीली धरती और क्रूरता से सूखा निरभ्र आकाश देखकर कवि के हृदय में प्रश्न उठना स्वाभाविक हो गया—जीवन क्या विषम खंडों का समूह मात्र है, जिसमें एक खंड दूसरे के विरोध में ही स्थिति रखेगा? हृदय क्या मांसल यंत्र मात्र है, जिसमें परस्पर पीड़ा पहुंचाने के साधनों का आविष्कार होता रहेगा? प्रकृति क्या लौहागार मात्र है, जिसमें एक-दूसरे को क्षत-विक्षत करने के लिए अमोघ अस्त्र-शस्त्र ही गढ़े जाएंगे?

भारतीय कवि को उनके सब प्रश्नों का उत्तर जीवन की उसी अखंडता में मिला, जिसकी छाया में लघु-गुरु, कोमल-कठोर, कुरूप-सुंदर सब सापेक्ष बन जाते हैं।

जीवन को जीवन से मिलाने के लिए तथा जीवन को प्रकृति से एक करने के लिए उसने वही सर्वात्मक हृदयवाद स्वीकार किया, जो सबकी मुक्ति में उसे मुक्त कर सकता था। जीवन की विविधरूप एकता के संबंध में छायायुग के प्रति-

निधि गायकों के स्वर भिन्न पर राग एक है—

अपने सुख-दुख से पुलकित,
यह मूर्त विश्व सचराचर,
चिति का विराट वपु मगल,
यह सत्य सतत चिर सुन्दर!

—प्रसाद

जिस स्वर से भरे नवल नीरद
हुए प्राण पावन गा हुआ हृदय भी गद्‌गद
जिस स्वर वर्षा ने भर दिए सरित-सर-सागर
मेरी यह धरा हुई धन्य भरा नीलाम्बर!
वह स्वर शर्मद उनके कठो मे गा दो!

—निराला

एक ही तो असीम उल्लास
विश्व मे पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि मे हरित-विलास
शान्त अम्बर मे नील विकास,

—पत

जीवन मे सामजस्य को खोजने वाले कवि ने बाह्य विभिन्नता से अधिक अतरतम की एकता को बहुत महत्त्व दिया और आधुनिक युग मे मनुष्य-निर्मित आश्चर्यों के स्थान मे प्रकृति की रहस्यमय स्वाभाविकता को स्वीकार किया। तत्त्वगत एकता और सौंदर्यगत विविधता ने एक ओर रहस्यगीतो के निराकार को अनत रूप दिये और दूसरी ओर प्रकृति-गीतों के सौंदर्य को भाव के निरतर श्वासोच्छ्वास मे विस्तार दिया।

सगीत के पखो पर चलनेवाले हृदयवाद की छाया मे गीत विविधरूपी हो उठे। स्वानुभूत सुख-दुखो के भाव-गीत, लौकिक मिलन-विरह, आशा-निराशा पर आश्रित जीवन-गीत, सौंदर्य की सजीवता देने वाले चित्रगीत, सबकी उपस्थिति सहज हो गई।

पर इस भागवत सर्ववाद मे इतिवृत्तात्मक यथार्थ की स्थिति कुछ कठिन हो जाती है। छायावाद की रूप-समष्टि मे प्रकृति और जीवन की रेखाए उलझकर धूमिल तथा रग घुल-मिलकर रहस्यमय हो उठते हैं। इसके विपरीत इतिवृत्त को कठिन रेखाओं और निश्चित रगो की आवश्यकता रहती है, क्योंकि वह केवल उसी वस्तु को देखता है, जिसका उसे चित्र देना है—आसपास की रूपसमष्टि के प्रति उसे कोई आकर्षण नही।

इसके अतिरिक्त गीत स्वय एक भावावेश है और भावावेश मे वस्तुए कुछ अतिशयोक्ति के साथ देखी जाती हैं। साथ ही गायक अपने सुख-दुखो को अधिक

से अधिक व्यापकता देने की इच्छा रखता है, अन्यथा गाने की आवश्यकता ही न रहे।

इस प्रकार प्रत्येक गीत-भाव की गहराई और अनुभूति की सामान्यता से बंधा रहेगा। मिट्टी से ऊपर तक भरे पात्र में जैसे रजकण ही अपने भीतर पानी के लिए एक जगह बना देते हैं, वैसे ही यथार्थ के लिए भाव मे ऐसी स्वाभाविक स्थिति चाहिए, जो भाव ही से मिल सके। इससे अधिक इतिवृत्त गीत में नही समा पाता।

छायावाद के गीतो का यथार्थ कभी भाव की छाया मे चलता है और कभी दर्शनात्मक आत्मबोध की।

भाव की छाया मनुष्य और प्रकृति दोनो की यथार्थ रेखाओ को एक रहस्य-मयता दे देती है—

लख ये काले काले बादल,
नील सिन्धु मे खुले कमल दल !
—निराला

मे मेघ रूप की जिस अनत समष्टि के साथ है—

गहरे धुंधले धुले सांवले
मेघो से मेरे भरे नयन,
—पन्त

मे मनुष्य भी उसी समष्टि में स्थिति रखता है।

जीवन का तत्त्वगत भावन, बाह्य अनेकता पार कर अतर की एकता पर आश्रित रहेगा, अतः—

चेतन समुद्र में जीवन
लहरों सा बिखर पडा है।
—प्रसाद

मृण्मय दीपो मे दीपित हम
शाश्वत प्रकाश की शिखा सुषम।
—पन्त

जैसी अनुभूतियों में यथार्थ की रेखाए घुल-मिल जाती हैं।

इतना ही नही—

पीठ पेट दोनो मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक।

जैसी पंक्तियों में भिखारी की जो यथार्थ रेखाए हैं, उनका कठोर बंधन भी आत्मबोध की अंतःफल्गु को बाहर फूट निकलने से नही रोक पाता, इसी से ऐसे यथार्थ चित्र के अंत मे कवि कह उठता है—

ठहरो अहो मेरे हृदय मे है अमृत मैं सींच दूँगा ।

—निराला

राष्ट्रगीतो मे भी एक प्रकार की रहस्यमयता का आ जाना स्वाभाविक हो गया। भारतेंदु-युग ने इस देश को सामाजिक और राजनीतिक विकृतियो के बीच मे देखा, अतः 'सब भाति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा' कहना स्वाभाविक हो गया। खडी बोली के वैतालिको ने उसे प्राकृतिक समृद्धि के बीच मे प्रतिष्ठित कर 'सूर्यचंद्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है' कहकर मूर्तिमत्ता दी। छायावाद ने इस सौदर्य मे सूक्ष्म स्पदन की अनुभूति प्राप्त की—

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
बरसाती आखो के बादल बनते जहाँ भरे करुणा-जल,
लहरें टकराती अनन्त की, पाकर कूल किनारा।

—प्रसाद

भारतेंदु-युग के—'चलहु वीर उठि तुरत सबै जयध्वजहिं उडाओ' आदि अभियान-गीतो मे राष्ट्रीय जय-पराजय-गान के जो अकुर है, वे उत्तरोत्तर विकसित होते गए—

हिमाद्रि तुग शृग से,
प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयप्रभा समुज्ज्वला,
स्वतत्रता पुकारती।

—प्रसाद

आदि अभियान-गीत सस्कृत के वर्णवृत्तो से रूप और अपने युग की रहस्यमयता से स्पदन पाते हैं। राष्ट्रगीतो मे वही निर्धूम करुण दीप्ति है, जो मोम-दीपो मे मिलेगी।

पुरातन गौरव की ओर प्राय सभी कवियो का ध्यान आकर्षित हुआ; क्योकि बिना पिछले सास्कृतिक मूल्यो के ज्ञान के मनुष्य नये मूल्य निश्चित करने मे असमर्थ रहता है—

जगे हम लगे जगाने विश्व
लोक मे फैला फिर आलोक,
व्योम-तम-पुञ्ज हुआ तब नाश
अखिल ससृति हो उठी अशोक।

—प्रसाद

भूतियो का दिगन्त छवि-जाल
ज्योति चुम्बित जगती का भाल ?

—पन्त

मन के गगन के
अभिलाष-घन उस समय
जानते ये वर्षण ही
उद्गीरण वज्र नही।
—निराला

इस प्रवृति ने इन कवियों को एक ऐसी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि दी, जिस पर उनके निराशा के गीत भी आशा से आलोकोज्ज्वल हो उठे और व्यक्तिगत सुख-दु:ख भी विशाल होकर उपस्थित हो सके।

काव्य-गीतो के साथ-साथ समानांतर पर चलनेवाली लोक-गीतों की परंपरा भी उपेक्षा के योग्य नही, क्योंकि वह साहित्य की मूल-प्रवृत्तियो को सुरक्षित रखती आ रही है। प्रायः जब प्रबंधो के शखनाद में गीत का मधुर स्वर मूक हो जाता है, तब उसकी प्रतिध्वनि लोक-हृदय के तारो मे गूजती रहती है। इसी प्रकार गीत की रागिनी जब काव्य को कथा-साहित्य की ओर से वीत-राग बना देती है, तब वे कथाए सरल आख्यान और किंवदंतियों के रूप मे लोक-काव्यो मे कही-सुनी जाती हैं। जब आधुनिक जीवन की कृत्रिम चकाचौंध मे प्रकृति पर दृष्टि रखना कठिन हो जाता है, तब लोक और ग्राम मे वह जीवन के पार्श्व मे खडी रहती है। जब बदली परिस्थितियो मे रणकंकण खुल चुकते हैं, केसरिया बाने उतर चुकते हैं, तब लोक-गीत वीर रस को पुनर्जन्म देते रहते हैं।

इस प्रकार न जाने कितनी काव्य-समृद्धि हमें लोक-गीत लौटाते रहे हैं। इन गीतों के गायक जीवन के अधिक समीप और प्रकृति की विस्तृत स्पंदित छाया मे विकास पाते हैं, अतः उनके गीतो मे भारतीय काव्य-गीतो की मूल प्रवृत्तियों का अभाव नही है। इन गीतो के संबध मे हमारी धारणा बन गई है कि वे केवल इतिवृत्तात्मक जीवन-चित्र हैं, परंतु उनका थोडा परिचय भी इसे भ्रांत प्रमाणित कर सकेगा।

जैसे गीत के पद्य होने पर भी प्रत्येक तुकबंदी गीत नही कही जाएगी, इसी प्रकार लोक-जीवन के सब ब्योरे गेयता नही पा सकते। इसका सबसे अतर्क्य प्रमाण हमे ग्राम्य जीवन मे मिलेगा, जहां लोक का सारा ज्ञान-कोष कण्ठ ही मे रहता है। पशु सबंधी ज्ञान, खेती सबंधी विज्ञान, जीवन को अन्य स्थूल-सूक्ष्म समस्याओं के समाधान, सब पद्य की रूपरेखा मे बंधकर पीढ़ियो तक चलते रहते हैं। पर गेयता का महत्त्व इन तुकबंदियो मे नहीं खो जाता। गीतों मे उतना ही यथार्थ लिया जाता है, जितना भाव को भारी न बना दे। लोकगीतो मे टेक की तरह आने वाला यथार्थ सूक्ष्म वायुमडल को घेरने वाली दिशाओं के समान स्वर-लहरी को फैलाने के लिए अपनी स्थिति रखता है, उसे रूंध डालने के लिए

नहीं।

हमारा यह बिना लिखा गीत-काव्य भी विविधरूपी है और जीवन के अधिक समीप होने के कारण उन सभी प्रवृत्तियो के मूल रूपो का परिचय देने मे समर्थ है, जो हमारे काव्य मे सूक्ष्म और विकसित होती रह सकी।

प्रकृति को चेतना व्यक्तित्व देने की प्रवृत्ति लोक-जीवन मे अधिक स्वाभाविक रहती है, इसी से सूर्य-चन्द्र से लेकर वृक्ष-लता तक सब एक ओर सजीव, स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं और दूसरी ओर जीवन के साथ सापेक्ष स्थिति मे रहते हैं।

ग्राम की विरहिणी बाला अपने उसी रात लौटने वाले पति के स्वागत का प्रबध चद्रमा को सौंपने मे कुंठित नही होती—

आजु उओ मोरे चदा जुन्हइया आँगन लीपै,
झिलमिल होहि तरइयाँ तौ मोतियन चौक धरै।

(हे मेरे चद्र, तुम आज उदय हो! तुम्हारी चादनी मेरे आगन को लीपकर उज्ज्वल कर दे और ये झिलमिलाती तारिकाए मोतियो का चौक बन जावें।)

प्रकृति के जीवन के साथ उनके जीवन का ऐसा सबध है कि वे अपने सुख-दु ख, सयोग-वियोग सब मे उसी के साथ हसना-रोना, मिलना-बिछुडना चाहते हैं—तभी तो पिता के घर से पतिगृह जाती हुई व्यथित बालिका वध कहती है—

मोरी डोलिया सजी है दुआर बाबुल तोरी पाहुनियाँ!
फूलै जब अँगना की नीम फरै जब नारंगिया,
सुध कर लीजो एक बार कूकै जब कोइलिया।
बौरै जब बगिया का अमवा झूलन डारै सब सखियाँ,
पठइयो बिरन हमार घिरै जब बादरियाँ।

(हे पिता! द्वार पर मेरी डोली आ गई है। अब मैं तुम्हारी अतिथि हूँ। पर जब आगन का नीम फूलो से भर जाए, नारगी जब फलो से लद जाए और जब कोयल कूक उठे, तब एक बार तुम मेरी सुधि कर लेना।

जब बाग का रसाल बौरने लगे, उसकी डाल पर सखिया झूला डालें और पावस की काली बदली घिर आवे, तब तुम मेरे भैया को मुझे लेने के लिए भेज देना।)

इस चित्र के पाश्र्व मे हमारी स्मृति उस करुण मधुर शकुतला का चित्र आक देती है, जो पिता से लता के फूलने और मृगशावक के उत्पन्न होने का समाचार भेजने के लिए अनुरोध करती है तथा जिसके लिए कण्व वृक्ष-लताओ से कहते हैं—

समाज और व्यक्ति

समाज ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जिन्होंने व्यक्तिगत स्वार्थों की सार्वजनिक रक्षा के लिए, अपने विषम आचरणों मे साम्य उत्पन्न करने वाले कुछ सामान्य नियमों से शासित होने का समझौता कर लिया है।

मनुष्य को समूह बनाकर रहने की प्रेरणा पशु-जगत् के समान प्रकृति से मिली है, इसमें संदेह नही; परंतु उसका क्रमिक विकास विवेक पर आश्रित है, अन्ध प्रवृत्तिमात्र पर नही। मानसिक विकास के साथ-साथ उसमे जिस नैतिकता की उत्पत्ति और वृद्धि हुई उसने उसे पशु-जगत् मे सर्वथा भिन्न कर दिया। इसी से मनुष्य-समाज समूह-मात्र नही रह सका, वरन् धीरे-धीरे एक ऐसी संस्था मे परिवर्तित हो गया, जिसका ध्येय भिन्न-भिन्न सदस्यो को लौकिक सुविधाएं देकर उन्हें मानसिक विकास के पथ पर आगे बढ़ाते रहना है।

आदिम युग का मनुष्य, समूह मे रहते हुए भी पारस्परिक स्वार्थ की विवेचना और उसकी समस्याओं से अपरिचित रहा होगा। अनुमानतः सामाजिक भावना का जन्म परस्पर हानि पहुंचाने वाले आचरण से तथा उसका विकास नवीन स्थानो में उत्पन्न संगठन की आवश्यकता से हुआ है। किसी भी प्राणि-समूह को अपने जन्मस्थान मे उतने अधिक संगठन की आवश्यकता नहीं होती जितनी किसी नये स्थान मे होती है, जहां उसे अपने-आपको नवीन परिस्थितियों के अनुरूप बनाना पड़ता है। यदि उसकी सहजबुद्धि इस एकता की अनिवार्यता का बोध न कराती तो इस समूह-विशेष का जीवन ही कठिन हो जाता। मनुष्य जाति जब जीवन के लिए अधिक सुविधाएं प्रदान करने वाले प्रदेशो मे फैलने लगी तब उसके भिन्न-भिन्न समूहो को अपनी शक्तियों का दृढ़तर संगठन करने की आवश्यकता ज्ञात हुई, अन्यथा वे नयी परिस्थितियों और नये शत्रुओ से अपनी रक्षा करने में समर्थ न हो पाते। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों मे बिखरी हुई उच्छृंखल शक्ति जाति के लिए दुर्बलता बन जाती है यह पाठ मनुष्य समूह ने अपने जीवन के आरंभ में ही सीख लिया था; इसी से वह उसे एकता के सूत्र

मे बाधकर अपने-आपको सबल बना सका। अनेक व्यक्ति एक ही स्थान में एक-दूसरे के निकट बसने लगे, परस्पर सहानुभूति और सद्‌भाव उत्पन्न करने के लिए एक-दूसरे की खाद्य और आच्छादन छीन लेने की प्रवृत्ति को रोकने लगे और विजाति से युद्ध के समय शक्ति को सगठित रखने के लिए अपने समूह विशेष के किसी अग्रगण्य वीर का शासन मानना सीखने लगे। विशेष सुविधाओ के लिए एकत्र यह मनुष्य समूह ही हमारे विकसित तथा अनेक नैतिक और धार्मिक बधनो मे बधे सभ्य समाज का पूर्वज कहा जा सकता है। आज भी असभ्य जातियों के सगठन के मूल मे यही आदिम युग की भावना सन्निहित है।

स्थान विशेष की जलवायु तथा वातावरण के अनुरूप एक जाति रग-रूप और स्वभाव मे दूसरी से भिन्न रही है और प्रत्येक मे अपनी विशेषताओ की रक्षा के लिए स्वभावगत प्रेरणा की प्रचुर मात्रा रहती है। आत्मरक्षा के अतिरिक्त उन्हें अपनी जातिगत विशेषताओ की चिन्ता भी थी, अत उनमे व्यवहार के लिए ऐसे विशेष नियम भी बनने लगे, जिनका पालन व्यक्ति की आत्मरक्षा के लिए न होकर जाति की विशेषताओ की रक्षा के लिए अनिवार्य था। आत्मरक्षा की भावना के साथ-साथ मनुष्य मे जाति की विशेषताओ की रक्षा की भावना भी बढती गई जिससे उसके जीवन-सबधी नियम विस्तृत और जटिल होने लगे। समूह द्वारा निश्चित नियम सबधी समझौते के विरुद्ध आचरण करने वाले को दड मिलने का विधान था, परतु इस विधान द्वारा छिपाकर विरुद्धाचरण करने वालों को नही रोका जा सकता था। अतएव कालांतर मे उन नियमो के साथ पारलौकिक सुख-दु खो की भावना भी बध गई। मनुष्य को स्वभाव से ही अज्ञात का भय था, इसी से उसके निर्माण के सब कार्यों मे एक अज्ञात कर्ता का निर्माण प्रमुख रहा है। इस अज्ञात का दड और पुरस्कार मनुष्य के आचरण को इतना अधिक प्रभावित करता आ रहा है कि अब उसे महत्व मे समाज के वास्तविक दड और पुरस्कार के साथ एक ही तुला पर तोला जा सकता है। आरभ मे यदि समाज के रोष या प्रसाद से उत्पन्न लौकिक हानि और लाभ आचरण के ढालने के कठोर साचे थे, तो पारलौकिक सुख-दु खो की भावना उस मानसिक सस्कार का दृढ आधार थी, जिससे आचरण को रूप मिलता है। इस प्रकार लौकिक सुविधा की नीव पर, नैतिक उपकरणों से, धार्मिकता का रग देकर हमारी सामाजिकता का प्रासाद निर्मित हो सका। जिस क्रम से मनुष्य सभ्यता के मार्ग पर अग्रसर होता गया, उसी क्रम से समाज के नियम अधिकाधिक परिष्कृत होते गये और पूर्ण विकसित तथा व्यवस्थित समाज मे वे केवल व्यावहारिक सुविधा के साधन मात्र न रहकर सदस्यों के नैतिक तथा धार्मिक विकास के साधन भी हो गये।

व्यक्ति तथा समाज का सबध सापेक्ष कहा जा सकता है, क्योकि एक के

अभाव मे दूसरे की परिस्थिति सभव नही। व्यक्ति के स्वत्वों की रक्षा के लिए समाज बना है और समाज के अस्तित्व के लिए व्यक्ति की आवश्यकता रहती है। एक सामाजिक प्राणी स्वतंत्र और परतंत्र दोनों ही है। जहा तक वैयक्तिक हितों की रक्षा के लिए निर्मित नियमो का संबध है, व्यक्ति परतंत्र ही कहा जाएगा; क्योंकि वह ऐसा कोई कार्य करने के लिए स्वच्छंद नहीं जिससे अन्य सदस्यो को हानि पहुचे। परतु अपने और समाज के व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक विकास के क्षेत्र मे व्यक्ति पूर्णत. स्वतत्र रहता है।

अवश्य ही इस विकास की व्याख्या प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ की दृष्टि मे नही कर सकता, अन्यथा इसकी परिभाषाएं समाज के सदस्यो की सख्या से न्यून नही हो सकती। मनुष्य-जाति का, बर्बरता की स्थिति से निकलकर मानवीय गुणो तथा कला-कौशल की वृद्धि करते हुए सभ्य और सुसस्कृत होते जाना ही उसका विकास है। इस विकास की ओर अग्रसर होकर व्यक्ति समाज को भी अग्रसर करता है। व्यक्ति जब वैयक्तिक हानि-लाभ को केंद्रबिंदु बनाकर अपनी सार्वजनिक उपयोगिता भूलने लगता है, तब समाज की व्यवस्था और उसके सामूहिक विकास मे बाधा पडने लगती है, भिन्न-भिन्न स्वभाव और स्वार्थ वाले व्यक्तियो के आचरणो मे कुछ विषमता अवश्य ही रहती है; परतु जब इस विषमता की मात्रा सामजस्य की मात्रा के समान या उससे अधिक हो जाती है, तब समाज की सामूहिक प्रगति दुर्गति में परिवर्तित होने लगती है। इस विषमता का चरम सीमा पर पहुच जाना ही क्राति को जन्म देता है, जिससे समाज की व्यवस्था को नयी रूप-रेखा मिलती है।

व्यक्ति समाज से पृथक् रह सकता है या नही, यह प्रश्न कई दृष्टिकोणो से देखा जा सकता है। यदि समाज का अर्थ सप्रदाय-विशेष समझा जावे, तो मनुष्य उससे स्वतंत्र रह सकता है, क्योकि ऐसी स्वतंत्रता मनुष्य के मानसिक जगत् के अधिक समीप है। एक व्यक्ति अपनी विचार-धारा में जितना स्वतत्र हो सकता है, उतना व्यवहार मे नही हो सकता। मानसिक जगत् का एकाकीपन व्यावहारिक जगत् मे संभव नही, इसी से प्राचीन काल मे भी भिन्न-भिन्न मत और दर्शन वाले व्यक्तियों के पृथक्-पृथक् समाज नही बनाये गये। केवल आत्मापेक्षी जगत् मे मनुष्य समाज से स्वतंत्र होकर रह सकता है। परतु यदि समाज की परिभाषा ऐसा मनुष्य-समूह हो, जो पारस्परिक सहयोगापेक्षी है, तो उस समाज से व्यक्ति का नितात स्वतत्र होना किसी युग मे भी सभव नही हो सका है। सभ्य और असभ्य दोनो ही स्थितियो में मनुष्य दूसरे मनुष्यो के सहयोग से अपना जीवन-मार्ग प्रशस्त कर सका है। उसके लिए अन्न, वस्त्र जैसी साधारण परंतु आवश्यक वस्तुए भी अनेक व्यक्तियों के प्रयत्न का फल हैं; यह स्वतः प्रमाणित है। उसकी भावना को जीवित रखने वाली कलाए, उसके

बौद्धिक विकास को प्रशस्त बनाने वाला साहित्य और व्यवहार-जगत् मे उसके जीवन को सुख और सुविधाएं देने वाले भवन, ग्राम, नगर तथा अन्य अनिवार्य वस्तुए सबकी उत्पत्ति मनुष्यो के सहयोग से हुई है, इसे कोई अस्वीकार न कर सकेगा । युगो से व्यक्ति को सुखी रखने और उसके जीवन को अधिक पूर्ण तथा सुगम बनाने के लिए मानव-जाति प्रकृति से निरतर युद्ध करती आ रही है । उसने अपनी सगठित शक्ति से पर्वतो के हृदय को वेध डाला, प्रपातों की गति बाधी, समुद्रो को पार किया और आकाश मे मार्ग बनाया । मनुष्य यदि मनुष्य को सहयोग देना स्वीकार न करता तो न मानवता की ऐसी अद्भुत कहानी लिखी जाती और न मनुष्य अपनी आदिम व्यवस्था से आगे बढ सकता । मनुष्य जाति सगठन म ही जीवित रहेगी, जब तक यह सत्य है तब तक समाज की स्थिति भी सुदृढ रहेगी । सारे मनुष्य एक ही स्थान मे नही रह सकते अत उनके समूहो के विकासोन्मुख सगठन पर सारी जाति की उन्नति का निर्भर होना स्वाभाविक ही है । इसके अतिरिक्त मनुष्य प्रकृति से ही सामाजिक प्राणी है, अपने स्वभाव मे आमूल परिवर्तन किए बिना उसका समाज से पृथक् होना न सभव है और न वाछनीय ।

फिर भी यह कहना कि समाज व्यक्ति के सपूर्ण जीवन मे व्याप्त है, सत्य की उपेक्षा करना होगा । साधारणत मानवीय स्वभाव का अधिकाश समाज के शासन मे नही रहता, क्योकि वह बधन से परे है । मनुष्य के जीवन का जितना अश धर्म, शिक्षा आदि की भिन्न भिन्न सामाजिक सस्थाओ के सम्पर्क म आता है, उतना ही समाज द्वारा शासित समझा जाता है और उतने ही से हम उसके विषय मे अपनी धारणा बनाते रहते हैं । समाज यदि मनुष्यो का समूह मात्र नही है तो मनुष्य भी केवल क्रियाओ का समूह नही । दोनो के पीछे सामूहिक और व्यक्तिगत इच्छा, हर्ष और दुखो की प्रेरणा है । जीवन केवल इच्छाओ या भावनाओ से उत्पन्न आचरणो की सेना के समान कवायद सिखा देने मे ही व्यक्त नही हो जाता, वरन् उन इच्छाओ के उद्गमो को खोजकर उनसे मनुष्यता की मरुस्थली को आर्द्र करके पूर्णता को प्राप्त होता है ।

इस दृष्टि से समाज की सत्ता दो रूपो म विभक्त हो जाती है । एक के द्वारा वह अपने सदस्यो के व्यवहार और आचरणो पर शासन करता है और दूसरे के द्वारा वह उनकी स्वाभाविक प्रेरणाओ का मूल्य आककर उनके मानसिक विकास के उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करता रहता है। किसी भी व्यक्ति को अपने लिए विशेष वातावरण ढूढने नहीं जाना पडता, क्योकि वह एक गृह विशेष मे जन्म लेकर अपनी वृद्धि के साथ-साथ अन्य सामाजिक सस्थाओ के सपर्क मे आता रहता है । जैसे उसे सांस लेने के लिए वायु की खोज नहीं करनी पडती, उसी प्रकार वातावरण विशेष से भी वह अनभिज्ञ रहता है । उसकी व्यावहारि-

कता और आध्यात्मिकता दोनों उसके अनजानपन में एक विशेष रूप-रेखा में बंधने लगती हैं और जब वह सजग होकर अपने-आपको देखता है तब वह बहुत कुछ बन चुका होता है। परंतु यदि व्यक्ति अपने इस रूप से संतुष्ट हो सके तो उसे निर्जीव मृत्पिंड ही कहेंगे, जो किसी साचे में ढल सकता है, परंतु ढाल नहीं सकता। वास्तव में समाज के दान की जहां इति है, व्यक्ति का वहीं से अथ होता है। वह दर्जी के सिले कपड़ों के समान पहले समाज के बंध सिद्धांतों को धारण कर लेता है और तब उनके तंग या ढीले होने पर, सुंदर या कुरूप होने पर अपना मतामत देता है। इसी मतामत से समय-समय पर समाज को अपने पुराने सिद्धांतों को नया रूप देना पड़ता है प्रगतिशील समाज में व्यक्तियों का समूह अन्योन्याश्रित ही रहेंगे और उनका दान-प्रतिदान उपयोगिता की एक ही तुला पर, विकास के एक ही बाट से तोला जा सकेगा।

समाज की दो आधार-शिलाएं हैं, अर्थ का विभाजन और स्त्री-पुरुष का संबंध। इनमें से यदि एक की भी स्थिति में विषमता उत्पन्न होने लगती है, तो समाज का सम्पूर्ण प्रासाद हिले बिना नहीं रह सकता।

अर्थ सामाजिक व्यक्ति की अनिवार्य आवश्यकता है, क्योंकि उसके द्वारा जीवन के लिए आवश्यक सामग्री प्राप्त हो सकती है। बर्बरता तथा सभ्यता दोनों ही परिस्थितियों में मनुष्य अपने सुख के साधन चाहता है, अंतर केवल यही है कि एक स्थिति में अपने सुख के साधन प्राप्त करना व्यक्ति की शक्ति पर निर्भर है और दूसरी में सुख की सामग्री के समान विभाजन का अधिकार समाज को सौंप दिया जाता है। बर्बरता की स्थिति में शक्ति का उपयोग व्यक्तिगत हितों की रक्षा में निहित था, परंतु सभ्य समाज में शक्ति का उपयोग सार्वजनिक है। समाज अपने सदस्यों में प्रत्येक को, चाहे वह सबल हो चाहे निर्बल, सुख के साधन समान रूप से वितरित करने पर बाध्य समझा जाता है।

सब व्यक्तियों का शारीरिक तथा मानसिक विकास एक-सा नहीं होता और न वे एक-जैसे कार्य के उपयुक्त हो सकते हैं; परंतु समाज के लिए वे सभी समान रूप से उपयोगी हैं। एक दार्शनिक कृषक का कार्य चाहे न कर सके, परंतु मानव-जाति को मानसिक भोजन अवश्य दे सकता है। इसी प्रकार एक कृषक चाहे मानव-समूह को कोई वैज्ञानिक आविष्कार भेंट न कर सके, परंतु जीवन-धारण के लिए अन्न देने का सामर्थ्य अवश्य रखता है। एक भवन बनाने में हमें ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता होती है, जो बनने से पहले कागज पर उसकी भावी रूप-रेखा अंकित कर सके; ऐसे व्यक्ति की सहायता भी चाहिए जो ईंट-पत्थर को जमाना और जोड़ना जानता हो और ऐसे व्यक्तियों के सहयोग की अपेक्षा भी रहती है जो मिट्टी-ईंट प्रस्तुत करके निर्माता तक पहुंचा सकें। पृथक्-पृथक् देखने से किसी का भी कार्य महत्त्वपूर्ण न जान पड़ेगा, परंतु उनके संयुक्त

प्रयत्न से निर्मित भवन प्रमाणित कर सकता है कि उनमे से कोई भी उपेक्षणीय नही था। समाज की भी यही दशा है। वह अपनी पूर्णता के लिए सब सदस्यो को उनकी शक्ति और योग्यता के अनुसार कार्य देकर उनके जीवन की सुविधाए प्रस्तुत करता है। जब इस नियम के विरुद्ध वह किसी को बिना किसी परिश्रम के बहुत-सी सुविधाए दे देता है और किसी को कठिन परिश्रम के उपरात भी जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओ से रहित रखता है, तब उसे लक्ष्य-भ्रष्ट ही कहना चाहिए, क्योकि यह स्थिति तो बर्बरता मे भी सभव थी। यदि उस स्थिति से मनुष्य सतुष्ट रह सकता तो फिर समाज की आवश्यकता ही न रह जाती। किसी भी सामजस्यपूर्ण समाज मे परिश्रम और सुख की यह विषमता सभव नही, क्योकि यह उस समझौते के नितात विपरीत है, जिसके द्वारा मनुष्य ने मनुष्य को सहयोग देना स्वीकार किया था। जो बर्बर मनुष्य अपने एक सुख के लिए दूसरे के अनेक सुखो को छीन लेने के लिए स्वच्छद था, उसी की उच्छृखलता को समाज ने न्याय के बधन मे बाध लिया है। इस बधन के अभाव मे प्रत्येक व्यक्ति फिर अपनी पूर्व स्थिति मे लौट सकता है, यह इतने वर्षों के अनुभव ने अपेक्षाकृत स्पष्ट कर दिया है। कुछ व्यक्तियो के प्रति समाज का ऐसा अनुचित पक्षपात ही वह व्याधि है, जो उसके रक्त का शोषण करते-करते अत म उसे निर्जीव कर देती है।

यह सभव है कि सबल दुर्बलो को अपनी बर्बर शक्ति के द्वारा बांधकर रख सकें, परन्तु यह अनिच्छा और परवशता से स्वीकृत सहयोग दासत्व से किसी भी अश म न्यून नही कहा जा सकता। इतिहास प्रमाणित कर देगा कि ऐसे दासत्व बहुत काल के उपरात एक अद्भुत सहारक शक्ति को जन्म देते रहे हैं, जिसकी बाढ को रोकने म बडे शक्तिशाली भी समर्थ नहीं हो सके। मनुष्य स्वभावत जीवन को बहुत प्यार करता है, परन्तु जब सहयोगियों के निष्ठुर उत्पीडन से वह नितात दुर्वह हो उठता है, तब उसकी ममता घोरतम विरक्ति म परिवर्तित हो जाती है। पीडितो का समाधान सभव हो सकता है, परन्तु ऐसे हताश और जीवन के प्रति निर्मम व्यक्तियों का समाधान सभव नहीं। ऐसे व्यक्तियो का वेग आंधी के समान चक्षुहीन, बाढ के समान दिशाहीन और विद्युत के समान लक्ष्यहीन हो जाता है। अपने सदस्यों की मन स्थिति ऐसी क्राति तक पहुचा देना समाज की मनोविज्ञान-शून्यता ही प्रकट करता है।

क्राति युग की प्रवर्तिका है अवश्य, परन्तु उसका कार्य, प्रवाह को एक दि[illegible] मे रोककर दूसरी मे ले जाने के समान है, इसी म उसे पहले लिखा [illegible] मिटाना पडता है, सीखा हुआ भुलाना पडता है और बनाया हुआ [illegible] पडता है। इसीलिए सुव्यवस्थित समाज विकास-मार्ग म रुक-रुककर [illegible] गन्तव्य और दिशा की परीक्षा करना आवश्यक समझते हैं। बाढ से [illegible]

की उपयोगिता है। जल के प्रलयंकर प्रवाह मे चाहे वह न बन सके, परंतु उसका पूर्ववर्ती होकर अनेक आघात सहकर भी स्थिर रह सकता है। फिर यह आवश्यक नहीं कि ऐसी संहारक और सर्वग्रासी क्रांति, सुंदर निर्माणक भी हो। तरग का स्वभाव तट से टकराकर लौट जाना है, यह देखना नही कि तीर की समरेखा अक्षुण्ण रही या नही रही। यह कार्य तो तट की दृढता और प्रकृति पर निर्भर है। क्रांति के आघात से अपनी रूप-रेखा बचा लेना उसी समाज के लिए संभव है, जो उसके उद्गम और दिशा से परिचित हो और उसे महन करने की क्षमता रखता हो। जिस समुद्र के अनत और अथाह गर्भ मे पर्वत खो गये हैं, उसी के तट से संबंध रखने वाले गोताखोर मोती निकाल लाते हैं और जिस ऊंची लहर के सामने बड़े-बड़े पोत बह जाते हैं उसी मे, तट पर आधार-स्तंभ के सहारे, मनुष्य स्नान करके निर्मल हो जाते हैं।

यदि समाज के पास ऐसा आधार-स्तंभ हो तो क्रांतियां उसे और अधिक निर्मल बना सकती हैं। इसकी अनुपस्थिति मे निरुद्देश्य बहना ही अधिक संभव है, जो मनुष्य और समाज के युगदीर्घ बंधन को शिथिल किये बिना नही रहता।

स्त्री-पुरुष का संबंध भी अर्थ से कम महत्त्वपूर्ण नही। समाज को बांधने वाला यह सूत्र कितना सूक्ष्म और दृढ है, यह उसके क्रमिक विकास के इतिहास से प्रकट हो जाएगा।

यह धारणा कि गृह का आधार लेकर समाज का निर्माण हो सका है आधुनिकता के आलोक मे पुरानी मानी जावेगी। परंतु नैतिक दृष्टि से समाज-वृक्ष के सघन मूल का पहला अंकुर स्त्री, पुरुष और उसकी संतान मे पनपा, इसे निर्मूल सिद्ध कर देना संभव नही हो सकेगा।

यदि यह ध्यान से देखें तो ज्ञात होगा कि बहुत काल से स्त्री की स्थिति समाज का विकास नापने के लिए माप-दंड रही है। नितांत बर्बर जाति में स्त्री केवल विनोद का साधन और अधिकार मे रखने की वस्तु समझी जाती रही। आज भी जगली जातियो मे स्त्री की वह स्थिति नही है जो सभ्य समाज मे मिलेगी। उस आदिम युग में मातृत्व स्त्रीत्व का आकस्मिक परिणाम था, जिससे जाति तो लाभ उठाती थी, परंतु स्त्री उपयोगी यत्न से अधिक गौरव नही पाती थी। तब स्त्री-पुरुष का संबंध भी अपने क्षणिक विनोद और उत्तरदायित्वहीनता के कारण पशुत्व का ही एक रूप था। वह यदि पशुत्व से निकृष्ट नही कहा जा सकता तो उत्कृष्ट होने का गर्व भी नही कर सकता। कही पुरुषो का समूह का समूह स्त्री-समूह से विवाहित था, कही एक पुरुष के अधिकार मे पालतू पशुओ के समान बहुत-सी स्त्रियां थी और कही स्त्री की संख्या न्यून होने के कारण अनेक पुरुष एक स्त्री पर अधिकार रखते थे। सारांश

है कि जहां जनसंख्या के अनुसार जैसी आवश्यकता थी वैसे ही नियम न गये।

जाति की वृद्धि और पुरुषों के मनोविनोद का साधन होने के अतिरिक्त त्री का कोई और उपयोग नहीं था। आनंद व अन्य उपकरणों के समान उन्हें त्पक्षियों से जीत लाना या सुयोग पाकर उनका अपहरण कर लाना साधारण-सी ात थी। स्त्री के हृदय है या उसकी इच्छा-अनिच्छा भी हो सकती है, यह आदिम ुग के पुरुष की सहज बुद्धि से परे था, परंतु जैसे-जैसे मानव-जाति पशुत्व की रिधि से बाहर आती गई, स्त्री की स्थिति में भी अंतर पड़ता गया। जाति ी माता होने के नाते उसके प्रति कुछ विशेष आदर का भाव भी प्रदर्शित िया जाने लगा। कब और कैसे पुरुष तथा स्त्री के संबंध में उस आसक्ति ा जन्म हुआ जिसने समय के प्रवाह में परिष्कृत से परिष्कृततर होते-होते ृह की नींव डाली, यह जान सकना कठिन है, परंतु अनुमानतः दोनों की ही वृत्ति और सहज बुद्धि ने उस अव्यवस्थित जीवन की त्रुटियां समझ ली होंगी। परस्पर संघर्ष में लगी हुई जातियों को तो इतना अवकाश ही न मिलता था कि वे जीवन की विशेष सुविधाओं का अभाव अनुभव करतीं। परंतु जब उन्होंने अपेक्षाकृत शांति से बसने का स्थान खोज निकाला और जीवन के लिए कुछ सुविधाएं प्राप्त कर लीं तब उनका ध्यान स्त्री की स्थायी उपयोगिता पर भी गया। पुरुष ने देखा, वह कभी श्रांत, कभी क्लांत और कभी रोगग्रस्त एकाकी है। ऐसी दशा में किसी मृदुस्वभावा सहचरी के साहचर्य की ओर उसकी कल्पना स्वतः प्रभावित होने लगी तो आश्चर्य ही क्या है। अपने अभाव के अतिरिक्त पुरुष की अधिकार-भावना भी गृह की नींव डालने में बहुत सहायक हुई होगी। अपनी तलवार, अपने धनुष-बाण के समान पुरुष अपनी स्त्री और अपनी संतान कहने के लिए भी आतुर हो उठा। मनोज्ञ स्त्री को संघर्ष से बचाने और जाति को वीर पुत्र देने का गर्व करने के लिए भी यह आवश्यक था कि स्त्री एकांत रूप से उसी के अधिकार में रहती। स्त्री ने भी अनिश्चित और संघर्षमय बाह्य जीवन से थककर अपने तथा अपनी संतान के लिए ऐसा साहचर्य स्वीकार किया, जो उसे जीवन की अनेक असुविधाओं से मुक्त कर सकता था। इस साहचर्य के नियम बहुत काल तक कोई स्पष्ट रूप रेखा न पा सके, क्योंकि उस समय तक मनुष्य-समूह की स्थिति में भी निरंतर परिवर्तन होता रहता था।

जिस समाज में हम पुरुष तथा स्त्री के संबंध का प्राचीनतम रूप देख सकते हैं, वह वैदिक समाज है, परंतु वह अपनी संस्कृति और प्रगतिशीलता के कारण किसी भी अर्थ में आदिम काल का समाज नहीं कहा जा सकता। उस समय तक समाज की रूप-रेखा स्पष्ट और उद्देश्य निश्चित हो जाने के कारण स्त्री की

स्थिति मे भी बहुत अतर आ चुका था।

वेदकालीन समाज जीवन-धारण के लिए अनिवार्य अग्नि, इद्र, सूर्यादि का महत्त्व समझ चुका था; रात्रि, उषा आदि की अभिनव सुषमा देखकर भाव-विह्वल हो चुका था; नवीन स्थान मे अपने सगठन को दृढ़तर करने के लिए वर्ण-व्यवस्था का आविष्कार कर चुका था और जाति की वृद्धि और प्रसार के लिए व्यक्ति को धर्म की दीक्षा दे चुका था। गृह के बिना पुरुष का कही बसना सभव नही और स्त्री के बिना गृह नही अतः स्त्री पुरुष की सहधर्मिणी निश्चित की गई। उन दोनो का उद्देश्य समाज को सुयोग्य सतान की भेंट देना और फिर उस सतान के लिए स्थान रिक्त करके अवकाश लेना था। उस समय जाति की विधात्री होने के कारण स्त्री आवश्यक और आदरणीय तो थी ही, साथ ही उसके जीवनचर्या सबधी नियम भी अधिक कठोर नही बनाये जा सके। सहधर्मिणीत्व के अभाव मे भी समाज उसकी सतान को त्याज्य नही कह सकता था; सौभाग्य से शून्य होने पर भी समाज उसे गृहधर्म से निर्वासन-दड न दे सकता था। वह मत्स्योदरी होकर भी राजरानी के पद पर प्रतिष्ठित हो सकती थी, कुती होकर भी मातृत्व की गरिमा से गुरु रह सकती थी और द्रौपदी होकर भी पतिव्रता के आसन से नही हटाई जा सकती थी। वह समाज की स्थिति के लिए पुरुष की सहधर्मिणी थी, पुरुष की अधिकार-भावना से बधी अनुगामिनी मात्र नही। जैसे-जैसे भिन्न परिस्थितियो मे उसकी सामाजिक उपयोगिता घटती गई, वैसे-वैसे पुरुष व्यक्तिगत अधिकार-भावना से उसे घेरता गया। अत मे यह स्थिति ऐसी पराकाष्ठा को पहुच गई जहा व्यक्तिगत अधिकार-भावना ने स्त्री के सामाजिक महत्त्व को अपनी छाया से ढक लिया। एक बार पुरुष के अधिकार की परिधि मे पैर रख देने के पश्चात् जीवन मे तो क्या, मृत्यु मे भी वह स्वतत्र नही। इस विधान ने ही विधवा की दयनीय स्थिति सभव कर दी। कदाचित् पहले यह विधान वर्णों के बधन कुछ कठिन हो जाने पर उन सतानवती विधवाओ के लिए किया गया होगा, जिनको अपने बालको का पालन उनके पिता के कुल और सस्कृति के अनुसार करना होता था।

प्रत्येक युग की सुविधा और असुविधाओ ने स्त्री-पुरुष के बंधन को विशेष रूप से प्रभावित किया है और प्रायः वह प्रभाव स्त्री की स्थिति मे अधिक अतर लाता रहा। शासको मे उसके प्रतिनिधियो की सख्या शून्य-सी रही है, अतः उसके सब विधान पुरुष की सुविधा के केंद्र-बिंदु बनाकर रचे गये। आध्यात्मिकता का सूक्ष्म अवलब लेकर पुरुष के प्रति उसका जो कर्त्तव्य निश्चित किया गया है, उसमें उसके या समाज के हानि-लाभ का विशेष ध्यान नही रखा जा सका, यह स्पष्ट है। पुरुष और स्त्री का सबध केवल आध्यात्मिक न होकर

व्यावहारिक भी है, इस प्रत्यक्ष सत्य को समाज न जाने कैसे अनदेखा करता रहा है। व्यावहारिकता मे एक व्यक्ति को दूसरे के लिए जो त्याग करना पडता है, उसके उपयुक्त मानसिक स्थिति उत्पन्न कर देना आध्यात्मिकता का कार्य और आध्यात्मिकता मे जिस यथार्थता का स्पर्श हम भुला देते हैं, उसे स्मरण कराते रहना व्यावहारिकता का लक्ष्य है। जब तक दापत्य सबध मे पशुत्व देवत्व मे घुलकर नही आता और देवत्व साकार बनकर नही अवतीर्ण होता, तब तक वह अपूर्ण ही रहेगा।

जैसे-जैसे हमारा समाज अपने आधे सदस्यो से अधिकारहीन बलिदान और आत्म-समर्पण लेता जा रहा है, वैसे-वैसे वह भी अपने अधिकार खोता जा रहा है, यह समाज के असतोषपूर्ण वातावरण से प्रकट है।

आज के समाज की जो स्थिति है, उसकी उपयुक्त परिभाषा कठिनाई से दी जा सकेगी। वह कुछ विशेष अधिकार-सपन्न और कुछ नितात अधिकारशून्य व्यक्तियो का ऐसा समूह है, जो उपयोगिता से नही वरन् परपरागत धारणा से बधा है। कही सतोष की अतिवृष्टि है और कही असतोष की अनावृष्टि, जिससे सामाजिक जीवन का सामजस्य नष्ट होता जा रहा है।

हमारा समाज अब प्राचीन काल का सुसगठित मानव-समूह नहीं रहा, जिसके हाथ मे राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि सभी व्यवस्थाए थी। अब भिन्न भिन्न समाज स्वय अपना शासन नही करते अत सदस्यो म वह सबध रहना सभव नही जो प्राचीन सगठनो मे मिल सकता था। इस प्रकार शासन-सत्ता से हीन होकर समाज दड और पुरस्कार की विशेष क्षमता नही रखता। आरभ म उसने अपनी इस क्षति की पूर्ति का साधन धर्म को बनाया, जिससे सामाजिक बधन बहुत कठिन और दुर्लभ हो उठे। धर्म जब मनुष्य के भावना-द्वार से हृदय तक पहुचता है तब उसके प्रभाव से मनुष्य की विचारधारा वैसे ही विकसित हो उठती है जैसे मलय-समीर से कली। परतु वही धर्म जब मनुष्य की बुद्धि पर बलात् डाल दिया जाता है तब वह अपने भार से मनुष्य की कोमल भावनाओ को कुचल-कुचलकर निर्जीव और रसहीन बनाये बिना नही रहता। धर्म का शासन हमारे जीवन पर वैसा ही प्रयासहीन होना चाहिए, जैसा हमारी इच्छा-शक्ति का आचरण पर होता है। सप्रयास धर्म जीवन का सबसे बडा अभिशाप है। न वह जीवन की गहराई तक पहुच सकता है और न उसकी प्रत्येक शिरा मे व्याप्त होकर उसे रसमय ही कर सकता है। बीज को हम वृक्ष की सबसे ऊची डाल के अग्रभाग के साथ बहुत ऊचाई तक पहुचा सकते हैं, परतु वहा उसे जमा सकना हमारी क्षमता के बाहर की बात है। उसे अकुरित होकर आकाश छूने के लिए पहले पृथ्वी की गहराई मे जाना होता है, यह प्रकृति का अटल नियम है। शासन-सत्ता के साथ, समाज की अन्य सामाजिक समस्याओ की

व्यवस्था पर भी अपना प्रभुत्व कम करना पड़ा जिससे समाज और सामाजिक संस्थाएं विकास-मार्ग में साथ-साथ न चल सकीं। नवीन परिस्थितियों में, समाज के सदस्यों को सुसंगठित होकर एक स्थान में बसने की सुविधा न मिलना भी सामाजिक बंधन की शिथिलता का कारण बन गया। कुछ व्यक्तिवाद ने और कुछ समाज की अव्यावहारिकता ने मनुष्य को अपनी सामाजिक उपयोगिता भूल जाने पर बाध्य कर दिया।

इस प्रकार अनेक बाह्य और आंतरिक, प्रकट और अप्रकट कारणों ने समाज का वह रूपांतर कर डाला, जिससे सामूहिक रूप से हमारी हानि हुई। कुछ प्राकृतिक परिस्थितियों पर हमारा वश नहीं था, यह सत्य है, परंतु यदि हम उनके अनुरूप सामाजिक संगठन कर सकते तो ऐसी अराजकता नितांत असंभव हो उठती।

इस समय समाज से हमारा अभिप्राय सम्प्रदाय-विशेष या जाति-विशेष ही रहता है, जिसके भिन्न-भिन्न स्थानों में फैले हुए सदस्यों के आचरण और रीतियों में एक विशेष समानता रहती है। कुछ समय पूर्व तक यह समाज अपने इने-गिने अधिकारों का प्रयोग विवेक-शून्य निष्ठुरता के साथ करता रहा, परंतु इससे बचने के स्थान में सारे सदस्य दूर-दूर होते गए। अब तो विवाह आदि के समय ही व्यक्ति अपने जाति-भाइयों की खोज करता है, परंतु यह अनिवार्यता भी धीरे-धीरे शिथिल होती जा रही है।

प्रत्येक जाति और सम्प्रदाय में कुछ उग्र विचार वाले, कुछ नवीनता के संयत उपासक और कुछ रूढ़िवादी अवश्य मिलेंगे। इनके बिखर जाने के कारण कुछ समाज ऐसे भी बन गये हैं जिनका आधार विचारधारा है, जाति या संप्रदाय नहीं। परंतु जाति के संगठन में यदि उपयोगिता का अभाव है तो इनमें व्यावहारिकता की शून्यता है। उग्र विचारवालों में विचार के अतिरिक्त और कोई समानता नहीं, संयत विचार वालों में पर्याप्त साहस नहीं और रूढ़िवादियों में व्यवहारकुशलता नहीं। समाज को ऐसा अपरूप देने का कुछ श्रेय पाश्चात्य सभ्यता को भी देना होगा, क्योंकि उसके अभाव में ऐसे परिवर्तन प्राकृतिक ढंग से आते। एक विदेशीय संस्कृति में पला समाज जब शासक के रूप में आ जाता है तब शासित जाति के संगठन में कुछ आकस्मिक परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। कोई भी पहले से प्रतिष्ठित संस्कृति न एकदम पराजय स्वीकार कर सकती है और न विजय में एकांत विश्वास ही रखती है। शासक और शासित समाज का संघर्ष उच्छृंखल भी हो सकता है और संयत भी, यह ऐतिहासिक सत्य है। किसी समय भारतीय संस्कृति और समाज को मुस्लिम संस्कृति से लोहा लेना पड़ा था और उस अग्निवर्षा से वह अक्षत निकल आई। इस विजय का कारण उस संघर्ष का बाह्य और उच्छृंखल होना ही कहा जा

सकता है। किसी जाति की संस्कृति उसके शरीर का वस्त्र न होकर उसकी आत्मा का रस है, इसी से न हम उसे बलात् छीन सकते हैं और न चीर-फाड़ कर फेंक सकते हैं। उस रस का स्वाद बदलने के लिए तो हमें उससे अधिक मधुर औषधि पिलानी पड़ेगी। जब-जब बाहर की संस्कृति विवेक-शून्य होकर आई, उसे पराजय ही हाथ लगी, जब उसने विवेक बुद्धि से काम लिया तब अपने पीछे विजय की ज्वलंत कहानी छोड़ती गई है।

पाश्चात्य संस्कृति ने हमें युद्ध की चुनौती न देकर मित्रता का हाथ बढ़ाया, इसी से हमारा उससे कोई बाह्य संघर्ष भी नहीं हुआ। वह हमारी अनेक सामाजिक संस्थाओं में प्रवेश पाते-पाते हमारे हृदय में प्रविष्ट हो गई और इस प्रकार बिना किसी संघर्ष के भी हमारे जीवन को उतना ही प्रभावित कर सकी जितना स्वयं हमारी संस्कृति कर सकती थी। उसके उपयोगिता या अनुपयोगिता के संबंध में बहुत कुछ कहा जाता रहा है और कहा जाता रहेगा, परन्तु इतना दोनों ही दशाओं में सत्य है कि उसने हमारे सामाजिक दृष्टिकोण को बदल दिया है। शासक-संस्कृति होने के कारण यह अन्य संस्कृतियों के समान हमारी संस्कृति में विलीन होना नहीं चाहती, अन्यथा इससे हमारे विकास में कोई विशेष बाधा न पहुंचती। वर्तमान परिस्थितियों में उसने हमारे शिथिल समाज के भीतर एक ऐसे समाज का निर्माण कर दिया है, जिसकी आत्मा भारतीय और शरीर अभारतीय जान पड़ता है। इसे न हम साथ ले चल सकते हैं और न छोड़ सकते हैं। वह पश्चिमीय विचारधारा में बहकर भी उससे शामिल नहीं होता और भारतीयता में जीवित रहकर भी उससे प्रभावित नहीं होता।

संगठन की इन असुविधाओं के साथ-साथ विषम अर्थ-विभाजन और स्त्री की स्थिति समाज की नींव को खोखला किये दे रही है—इसका उत्तरदायित्व समाज और शासन-विभाग दोनों पर है सही, परन्तु उससे उत्पन्न, अव्यवस्था का अधिकांश समाज को मिलता है। केवल शक्ति से शासन हो सकता है समाज नहीं बन सकता, जिसकी स्थिति मनुष्य के स्वच्छंद सहयोग पर स्थित है। निरंकुश शासन शासक का अंत कर सकता है, निरंकुश समाज मनुष्यता को समाप्त कर देता है△

हमारा देश और राष्ट्रभाषा

हमारा हिमालय से कन्याकुमारी तक फैला हुआ देश, आकार और आत्मा दोनों दृष्टियो से महान् और सुदर है। उसका वाह्य सौंदर्य विविधता की सामजस्य-पूर्ण स्थिति है और आत्मा का सौंदर्य विविधता मे छिपी हुई एकता की अनुभूति है।

चाहे कभी न गलने वाला हिम का प्राचीर हो, चाहे कभी न जमने वाला अतल समुद्र हो, चाहे किरणो की रेखाओ से खचित हरीतिमा हो, चाहे एकरस शून्यता ओढ़े हुए मरु हो, चाहे सावले भरे मेघ हो, चाहे लपटो मे सास लेता हुआ ववडर हो, सब अपनी भिन्नता मे भी एक ही देवता के विग्रह को पूर्णता देते हैं। जैसे मूर्ति के एक अंग का टूट जाना सपूर्ण देव-विग्रह को खडित कर देता है, वैसे ही हमारे देश की अखडता के लिए विविधता की स्थिति है।

यदि इस भौगोलिक विविधता मे व्याप्त सांस्कृतिक एकता न होती, तो यह विभिन्न नदी, पर्वत, वनो का सग्रह-मात्र रह जाता। परतु इस महादेश की प्रतिभा ने इसकी अतरात्मा को एक रसमयता मे प्लावित करके इसे विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया है, जिससे यह आसमुद्र एक नाम की परिधि मे बध जाता है।

हर देश अपनी सीमा में विकास पाने वाले जीवन के साथ एक भौतिक इकाई है, जिससे वह समस्त विश्व की भौतिक और भौगोलिक इकाई से जुडा हुआ है। विकास की दृष्टि से उसकी दूसरी स्थिति आत्म-रक्षात्मक तथा व्यवस्थापरक राजनीतिक सत्ता मे है। तीसरी सबसे गहरी तथा व्यापक स्थिति उसकी सास्कृतिक गतिशीलता मे है, जिससे वह अपने विशेष व्यक्तित्व की रक्षा और विकास करता हुआ विश्व-जीवन के विकास मे योग देता है। यह सभी बाह्य और स्थूल तथा आतरिक और सूक्ष्म स्थितियां एक-दूसरी पर प्रभाव डालती और एक-दूसरी से सयमित होती चलती हैं।

एक विशेष भू-खड मे रहने वाले मानव का प्रथम परिचय, सपर्क और सघर्ष अपने वातावरण से ही होता है और उससे प्राप्त जय, पराजय, समन्वय आदि से उसका कर्म-जगत् ही सचालित नही होता, प्रत्युत अतर्जगत् और मानसिक सस्कार भी प्रभावित होते हैं।

व्यवस्थापरक शासन, विधिनिषेधमयी आचार-नीति, दर्शन, साहित्य आदि एक अनत विकास-क्रम मे घधकर ही एक विशेष भूमडल मे स्पदित जीवन को विशेष व्यक्तित्व देते हैं। इस प्रकार राष्ट्र न केवल नदी, पर्वत, वन का समूह है न शून्य मे स्थिति रखने वाले मानवो की भीड मात्र। एक स्वस्थ मानव जैसे पार्थिव शरीर म सूक्ष्म चेतना तक और प्रत्यक्ष कर्म से अदृष्ट सकल्प स्वप्न तक एक ही इकाई है, वैसे ही राष्ट्र भी विभिन्न स्थूल और सूक्ष्म रूपो और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष शक्तियो का एक जीवित गतिशील विग्रह है।

परिस्थितिया क्षणजीवी होती हैं, परतु उनके सस्कारो का जीवन अक्षय ही रहता है। किसी जाति या देश की राजनीतिक पराजय आकस्मिक हो सकती है, परतु उसका सास्कृतिक अवरोध उसकी जीवनी शक्ति के अवरुद्ध होने पर ही सभव है।

वैसे व्यापक अर्थ मे मानव-सस्कृति एक ही है, क्योकि मनुष्य के बुद्धि और हृदय का सस्कार-क्रम उसके जीवन के समान ही व्यापक और निश्चित है। परतु जैसे विकास की दृष्टि से वृक्ष एक होने पर भी उसका आधियो से लोहा लेने वाला तना, मद वायु के सामने झुकने वाली शाखाए, चिर चचल पल्लव और झरझर बरसने वाले फूल, सबका अपना-अपना विकास है, जैसे शरीर एक होने पर भी अगो का गठन और विकास एकरूप नही होता, वैसे ही मानव-सस्कृति एक होकर भी अनेक रूपात्मक ही रहेगी। उसकी विविधता का नष्ट होना उसके व्यक्तित्व का पाषाणीकरण है।

हमारा देश अपने प्राकृतिक वैभव मे जितना समृद्ध है, अपनी आंतरिक विभूतियो मे उससे कम गुरु नही। उसकी मूलगत समानता, लक्ष्यगत एकता और इन दोनो को जोडने वाली प्रदेशगत विविधता की तुलना के लिए ऐसी नदी को खोजना होगा, जो एक हिमालय से निकलकर एक समुद्र म मिलने के पहले अनेक धाराओ मे बिखर-बटकर प्रवाहित होती है। जैसे विभिन्न दूर-पास के अगो मे रक्त का एक हृदय मे आना और एक से पुन अनेक मे लौट आना ही शरीर की सचालक शक्ति है, इसी प्रकार भारतीय सस्कृति बार-बार एक केंद्र-बिंदु को छूकर दूर प्रसार की क्षमता पाती रही है।

रूपात्मक प्रवृति के प्रति हमारी रागात्मक दृष्टि, जीवन के प्रति हमारी आस्था, समाज, देश और विश्व के विषय मे हमारी नैतिक मान्यताए तत्त्वत एक रही हैं, इसी से हमारे साहित्य, कला, दर्शन आदि अपनी विविधता मे भी

एक ही हैं।

जहां तक भाषा का संबंध है, प्रत्येक विद्वान् जानता है कि ध्वनि पर कंठ और कंठ पर वातावरण का अनिवार्य प्रभाव एक भाषा में भी एकरूपता नही रहने देता। हमारे विशाल राष्ट्र मे विविध भाषाओ की स्थिति स्वाभाविक है; परंतु किसी भी जीवित-जाग्रत देश की भाषा की तुलना उन सिक्को से नही की जा सकती, जो बाजार मे क्रय-विक्रय के जड़ माध्यम मात्र हैं। वस्तुत भाषा जीवन की अभिव्यक्ति भी है। सौरभ फूल का नाम और परिचय देता है; पर वह उसके विकास का व्यक्त रूप भी है, जो मिट्टी, धूप, पानी आदि के संयोग से प्राप्त होता है। विशेष भू-भाग मे रहने वाले मानव-समूह की भाषा उसके परस्पर व्यवहार का माध्यम होने के साथ-साथ उस समूह के जीवन, सुख-दुःख, आकर्षण-विकर्षण, स्वप्न-आकांक्षा, यथार्थ-आदर्श, जय-पराजय आदि की स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी है। अत भाषा के साथ किसी जाति की संस्कृति भी अविच्छिन्न संबंध मे बंधी रहती है, क्योंकि उसके अभाव मे भाषा के विकास की आवश्यकता नही रहती। यदि हमारी थोड़ी-सी स्थूल आवश्यकताएं हैं, तो उन्हें व्यक्त करने के लिए इने-गिने शब्द-संकेत ही पर्याप्त होंगे।

किसी हाट मे क्रय-विक्रय के कार्य के लिए आवश्यक शब्दो की संख्या अधिक नही होती; परंतु जब हम अपने भाव-जगत्, विचार-मंथन, सौंदर्यबोध आदि को आकार देने बैठते हैं तब हमे ऐसी शब्दावली की आवश्यकता पड़ती है, जो भाव के हर हल्के-गहरे रंग को व्यक्त कर सके, बुद्धि की हर क्षणिक और स्थायी प्रक्रिया को नाम दे सके, सौंदर्य की हर सूक्ष्म स्थूल रेखा को आंक सके। हम भाषा के अध्ययन से यह निर्णय कर सकते हैं कि उसे बोलने वाली जाति सांस्कृतिक दृष्टि से विकास का कौन-सा प्रहर पार कर रही है। संस्कृति या समकृति कोई निर्मित वस्तु न होकर विकास का अनवरत क्रम है। मनुष्य का प्रत्येक कर्म अपने पीछे विचार, चिंतन, संकल्प, भाव तथा अनुभूति की दीर्घ और अटूट परंपरा छिपाये रहता है, इसी से संस्कार-क्रम भी अव्यक्त और व्यक्त दोनो सीमाएं छूता हुआ चलता है। भाषा संस्कृति का लेखा-जोखा रखती है, अत वह भी अनेक संकेतों और व्यंजनाओ मे ऐश्वर्यवती है।

हमारे देश ने आलोक और अंधकार के अनेक युग पार किये हैं; परंतु अपने सांस्कृतिक उत्तराधिकार के प्रति वह एकांत सावधान रहा है। उसमे अनेक विचारधाराएं समाहित हो गईं, अनेक मान्यताओ ने स्थान पाया; पर उसका व्यक्तित्व सार्वभौम होकर भी उसी का रहा।

उसके अंतर्गत आलोक ने उसकी वाणी के हर स्वर को उसी प्रकार उद्भासित कर दिया, जैसे आलोक हर तरंग पर प्रतिबिंबित होकर उसे आलोक की रेखा

बना देता है। एक ही उत्स से जल पाने वाली नदियो के समान भारतीय भाषाओ के बाह्य और आतरिक रूपो में उत्सगत विशेषताओ का सीमित हो जाना ही स्वाभाविक था। कूप अपने अस्तित्व मे भिन्न हो सकते हैं, परतु धरती के तल का जल तो एक ही रहेगा। इसी से हमारे चिंतन और भावजगत् मे ऐसा कुछ नही है, जिसमे सब प्रदेशो के हृदय और बुद्धि का योगदान और समान अधिकार नही है।

आज हम एक स्वतत्र राष्ट्र की स्थिति पा चुके है, राष्ट्र की अनिवार्य विशेषताओ मे दो हमारे पास हैं, भौगोलिक अखडता और सास्कृतिक एकता, परतु अब तक हम उस वाणी को प्राप्त नही कर सके है, जिसमे एक स्वतत्र राष्ट्र दूसरे राष्ट्रो के निकट अपना परिचय देता है। जहा तक बहु भाषाभाषी होने का प्रश्न है, ऐसे देशो की सख्या कम नही है जिनके भिन्न भागो मे भिन्न भाषाओ की स्थिति है। पर उनकी अविच्छिन्न स्वतत्रता की परपरा ने उन्हे सम-विषम स्वरो से एक राग रच लेने की क्षमता दे दी है।

हमारे देश की कथा कुछ दूसरी है। हमारी परतत्रता आधी-तूफान के समान नही आई, जिसका आकस्मिक सपर्क तीव्र अनुभूति से अस्तित्व को कपित कर देता है। वह तो रोग के कीटाणु लाने वाले मद समीर के समान सास मे समाकर शरीर मे व्याप्त हो गई है। हमने अपने सपूर्ण अस्तित्व से उसके भार को दुर्वह नही अनुभव किया और हमे यह ऐतिहासिक सत्य भी विस्मृत हो गया कि कोई भी विजेता विजित देश पर, राजनीतिक प्रभुत्व पाकर ही सतुष्ट नही होता, क्योकि सास्कृतिक प्रभुत्व के बिना राजनीतिक विजय न पूर्ण है न स्थायी। घटनाए सस्कारो में चिर जीवन पाती हैं और सस्कार के अक्षय वाहक, शिक्षा, साहित्य, कला आदि हैं।

दीर्घकाल से विदेशी भाषा हमारे विचार-विनिमय और शिक्षा का माध्यम ही नही रही, वह हमारे विद्वान् और सस्कृत होने का प्रमाण भी मानी जाती रही है। ऐसी स्थिति मे यदि हममे से अनेक उसके अभाव मे जीवित रहने की कल्पना से सिहर उठते हैं, तो आश्चर्य की बात नही। पर रोग की स्थिति को स्थायी मानकर तो चिकित्सा सभव नही होती। राष्ट्र-जीवन की पूर्णता के लिए उसके मनोजगत् को मुक्त करना होगा और यह कार्य विशेष प्रयत्न-साध्य है, क्योकि शरीर को बाधने वाली शृखला से आत्मा को जकडने वाली शृखला अधिक दृढ होती है।

आज राष्ट्रभाषा की स्थिति के सबध मे विवाद नही है; पर उसे प्रतिष्ठित करने के साधनो को लेकर ऐसी विवादैषणा जागी है कि साध्य ही दूर से दूरतर होता जा रहा है। विवाद जब तर्क की सीधी रेखा पर चलता है, तब लक्ष्य निकट आ जाता है; पर जब उसके मूल मे आशका, अविश्वास और अनिच्छा

रहती है, तब कहीं न पहुंचना ही उसका लक्ष्य बन जाता है।

आधुनिक युग मे जब विज्ञान ने समुद्रों और पर्वतों का अंतर दूर कर एक देश को दूसरे देश के पास पहुंचा दिया है, जब अणुबम की अंतक छाया मे भी अमर मानवता जाग उठी है और जब ध्वंस की लपटों के नीचे भी निर्माण के अंकुर सिर उठा रहे हैं तब हम अपने मनो की दूरी बढ़ाकर, संदेह के प्राचीर खड़े कर और विरोध के स्वरों मे बोलकर अपनी महान् परंपराओ की अवज्ञा ही करेंगे।

एक सुदर स्वप्न अनेक सुदर स्वप्नो मे समाकर जीवन को विराट् सौंदर्य देता है, एक शिव सकल्प अनेक शिव सकल्पो मे लीन होकर मनुष्य को विशाल शिवता देता है, एक निष्ठामय कर्म अनेक निष्ठामय कर्मों से मिलकर विश्व को अक्षय गति देता है। इसके विपरीत एक दुर्भाव अनेक दुर्भावनाओं मे मिलकर जीवन को विरूप कर देता है, एक अविश्वास अनेक अविश्वासो के साथ मनुष्य को असत्य कर देता है और एक आघात अनेक आघातों को पक्तिबद्ध कर मनुष्यता को क्षत-विक्षत कर देता है।

हम जीवन को सौंदर्य और गति देने वाली प्रवृत्तियो के साथ रहकर जिन प्रश्नो का समाधान करना चाहेंगे, वे स्वय उत्तर बन जाएंगे।

जहा तक हिंदी का प्रश्न है, वह अनेक प्रादेशिक भाषाओ की सहोदरा और एक विस्तृत विविधता-भरे प्रदेश मे अनेक देशज बोलियो के साथ पलकर बडी हुई है। अवधी, ब्रज, भोजपुरी, मगही, बुंदेली, बघेलखडी आदि उसकी धूल में खेलने वाली चिर सहचरियां हैं। इनके साथ कछार और खेतो, मचान और झोपडियों, निर्जन और जनपदो मे घूम-घूमकर उसने उजले आसू और रगीन हंसी का संबल पाया है।

साधको ने अपने कमडल के पूत जल से इसे पवित्र बनाया है। साम्राज्यवाद का स्वर्ण-मुकुट न इसकी धूलि-धूसरित उन्मुक्त पलको को बाध सका है, न बांध सकेगा। दीपक की लौ पर सोने का खोल क्या उसे बुझा नही देगा।

जब राजतत्र के युग मे भी वह द्वार-द्वार पर समानता का अलख जगाती रही, तब आज जनतत्र के युग मे उसके लिए प्रासाद की कल्पना उसकी मुक्त आत्मा के लिए कारागार की रचना ही कही जाएगी।

हिंदी के प्रादेशिक और भारतीय रूप भी चर्चा के विषय बन रहे हैं। यह प्रश्न बहुत कुछ ऐसा ही है, जैसे एक हृदय के साथ दो शरीरो की परिकल्पना।

हिंदी की विशेषता उसकी मुक्ति मे रही है, इसका प्रमाण उसके शब्दकोश मे मिल सकेगा। उसने देशज बोलियो तथा देशी-विदेशी भाषाओ से शब्द ग्रहण करने मे न कभी सकीर्णता दिखाई और न उन्हें अपना बनाने मे दुविधा का अनुभव किया। परतु विकसित परिमार्जित और साहित्यवती भाषा का कोई

सर्वमान्य रूप या मानदंड न हो, ऐसा संभव नहीं होता।

आज हिंदी में साहित्य सृजन करने वालों में कोई बिहार का मगही-भाषी है, कोई मथुरा का ब्रज-भाषी। परंतु बुंदेलखंडी बोलने वाले राष्ट्रकवि मैथिलीशरण, बैसवाड़ी बोलने वाले कविवर निराला और कुमाउनी बोलने वाले श्री सुमित्रानंदन जी क्या समान रूप से हिंदी के वरद पुत्र नहीं कहे जाते! यदि हिंदी को बिहारी हिंदी, अवधी हिंदी, बुंदेली हिंदी नहीं बनाया जा सकता है, तो उसका कारण हिंदी का वह संश्लिष्ट रूप और मूलगत गठन है, जिसके बिना कोई भाषा महत्त्व नहीं पाती।

अंग्रेजी भाषा भाषी विश्व-भर में फैले हैं, उनमें देशज संस्कार भी हैं; परंतु इससे अंग्रेजी का न सर्वमान्य गठन खंडित होता है और न उसे नये नामकरणों की आवश्यकता होती है। विश्व की सभी महत्त्वपूर्ण भाषाओं के संबंध में यह सत्य है। परिवर्तन भाषा के विकास का परिचय है, पर परिवर्तन में अंतर्निहित एक तारतम्यता उसके जीवन का प्रमाण है। शिशु के वृद्ध होने तक शरीर न जाने कितने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष परिवर्तनों का क्रम पार करता है, परंतु उसकी मूलगत एकता अक्षुण्ण रहकर उसे एक संज्ञा से घेरे रहती है। भाषा केवल संकेत लिपि नहीं है, प्रत्युत उसके हर शब्द के पीछे संकेतित वस्तु स्पंदित रहती है और प्रत्येक शब्द का एक सजीव इतिहास होता है। अतः एक जीवित भाषा का जीवन के साथ ही विकसित और परिमार्जित होते चलना स्वाभाविक है।

भाषा भी गढ़ी जाती है, परंतु वह एक कुंभकार का घट निर्माण नहीं, मिट्टी का अंकुर निर्माण है। जिस प्रकार मनुष्य की मूलगत प्रवृत्तियों को नये लक्ष्य से जोड़कर हम उसके अप्रत्यक्ष आदर्श और प्रत्यक्ष कर्म का निर्माण कर सकते हैं उसी प्रकार भाषा की नैसर्गिक वृत्तियों से नये भाव, नयी वस्तु, नये विचार जोड़कर हम उसे नये रूपों से समृद्ध करते रहते हैं। हिंदी का प्राकृत से ब्रज-अवधी तथा उनसे खड़ी बोली तक आने का क्रम जितना आश्चर्यजनक है, उतना ही अनायास, क्योंकि जिस लोकहृदय के साथ यह विकसित हुई, उससे इसका धरती और बीज का-सा संबंध था, जिसमें एक दूसरे पाता है और दूसरा पाकर देता है।

हिंदी अपना भविष्य किसी से दान में नहीं चाहती। वह तो उसकी गति का स्वाभाविक परिणाम होना चाहिए। जिस नियम से नदी नदी की गति रोकने के लिए नियम नहीं बन सकती, उसी नियम से हिंदी भी किसी सहयोगिनी का पथ अवरुद्ध नहीं कर सकती।

यह आकस्मिक संयोग न होकर भारतीय आत्मा की सहज चेतना ही है जिसके कारण हिंदी के भावी कर्तव्य को जिन्होंने पहचाना वे हिंदी भाषा-भाषी

नही थे। राजा राममोहन राय से महात्मा गाधी तक प्रत्येक सुधारक, साहित्यकार, धर्म-संस्थापक, साधक और चिंतक हिंदी के जिस उत्तरदायित्व की ओर संकेत करता आ रहा है, उसे नतशिर स्वीकार कर लेने पर ही हिंदी लक्ष्य तक नही पहुंच जाएगी, क्योकि स्वीकृति मात्र न गति है न गतव्य। वस्तुतः संपूर्ण भारत संघ को एकता के सूत्र में बाघने के लिए उसे दोहरे संबल की आवश्यकता है। एक तो आतरिक जो मन के द्वारो को उन्मुक्त कर सके और दूसरा बाह्य जो आकार को सबल और परिचित बना सके। अन्य प्रदेशों के लोकहृदय के लिए तो वह अपरिचित नही है, क्योकि दीर्घकाल से वह संत-साधको की मर्मवानी वनकर ही नही, हाट बाजार की व्यवहार बोली के रूप मे भी देश का कोना-कोना घूम चुकी है।

यदि आज उसे अन्य प्रदेशो से अविश्वास मिले, तो उसका वर्तमान सहित और अतीत मिथ्या हो जाएगा।

उसकी लिपि का स्वरूप भी मतभेदो का केंद्र बना हुआ है। सुदूर अतीत की ब्राह्मी से नागरी लिपि तक आते-आते उसके बाह्य रूप को समय के प्रवाह ने इतना माजा और खरीदा है कि उसे किसी बडी शल्य चिकित्सा की आवश्यकता नही है। नाम मात्र के परिवर्तन से ही वह आधुनिक युग के मुद्रण-लेखन यत्रो के साथ अपनी सगति बैठा लेगी; परतु तत्सबधी विवादो ने उसका पथ प्रशस्त न करके उसके नैसर्गिक सौष्ठव को भी कुंठित कर दिया है। यदि चीनी जैसी चित्रमयी दुरूह लिपि अपने राष्ट्र-जीवन का सदेश वहन करने मे समर्थ है, तो हमारी लिपि के मार्ग की बाधाए दुर्लंघ्य कैसे मानी जा सकती हैं।

स्वतत्रता ने हमे राजनीतिक मुक्ति देकर भी न मानसिक मुक्ति दी है और न हमारी दृष्टि को नया क्षितिज। हमारा शासन-तत्र और उसके संचालक भी उसके अपवाद नही हो सकते; परतु हमारे पथ की सबसे बडी बाधा यह है कि हमारी स्वतत्र कार्य-क्षमता राज्यमुखापेक्षी होती जा रही है। पर अधकार आलोक का त्योहार भी तो होता है। दीपक की लौ के हृदय मे पैठ सके ऐसा कोई बाण अधेरे के तूणीर मे नही होता। यदि हमारी आत्मा मे विश्वास की निष्कप लौ है, तो मार्ग उज्ज्वल रहेगा ही।

भाषा को सीखना उसके साहित्य को जानना है, और साहित्य को जानना मानव-एकता की स्वानुभूति है। जब हम साहित्य के स्वर मे बोलते हैं, तब वे स्वर दुस्तर समुद्रो पर सेतु बाधकर, दुर्लंघ्य पर्वतो को राजपथ बनाकर मनुष्य की सुख-दु ख-कथा मनुष्य तक अनायास पहुंचा देते हैं।

अस्त्रो की छाया मे चलने वाले अभियान निष्फल हुए हैं, चक्रवर्तियो के राजनीतिक स्वप्न टूटे हैं; पर मानव-एकता के पथ पर पड़ा कोई चरण-चिह्न अब तक नही मिटा है। मनुष्य को मनुष्य के निकट लाने का कोई स्वप्न अब

तक भग नहीं हुआ है।

भारत के लोक-हृदय और चेतना ने अनत युगो मे जो मातृमूर्ति गढी है, वह अथर्व के पृथ्वीसूक्त से वदेमातरम् तक एक, अखड और अक्षत रही है। उस पर कोई खरोच, हमारे अपने अस्तित्व पर चोट है।

हिंदी केवल कठ का व्यायाम न होकर हृदय की प्रेरणा बन सके तभी उसका सदेश सार्थक हो सकेगा। हम माता से जो क्षीर पाते हैं, वह उसके पार्थिव शरीर का रसमात्र न होकर आत्मा का दान भी होता है। इसी से वह हमारे शरीर का रसमात्र बनकर नि शेष नहीं हो जाता, वरन् आत्मा से मिल-कर अनत स्वप्न-सकल्पो मे फूलता-फलता रहता है।

हिंदी के धरातल पर सत रविदास और भक्त सूरदास पग मिलाकर चले है और निर्गुणवादी कबीर और सगुणवादी तुलसी कधा मिलाकर खडे हुए हैं।

जहा सप्रदायो की कठिन सीमाए भी तरल होकर मिल गई, उसी भूमि पर भेद की कल्पित दीवारें कैसे ठहर सकेंगी△

भाषा का प्रश्न

भाषा मानव की सबसे रहस्यमय तथा मौलिक उपलब्धि है। वैसे बाह्य जगत भी ध्वनि-संकुल है तथा मानवेतर जगत को भी अपनी सुखद-दुःखद जीवन-स्थितियों को व्यक्त करने के लिए कंठ और स्वर प्राप्त हैं।

चेतन ही नही, जड़ प्रकृति के गत्यात्मक परिवर्तन भी ध्वनि द्वारा अपना परिचय देते हैं। वज्रपात से लेकर फूल के खिलने तक ध्वनि के जितने कठिन-कोमल आरोह-अवरोह हैं, निदाघ के हरहराते बवंडर से लेकर वासंती पुलक तक लय की जो विविधतामयी मूर्च्छना है, उसे कौन नही जानता। पशु-पक्षि-जगत के सम-विषम स्वरों की संख्यातीत गीतिमालाओं से भी हम परिचित हैं। परंतु ध्वनियों के इस संघात को हम भाषा की संज्ञा नहीं देते, क्योंकि इसमें वह अर्थवत्ता नही रहती, जो हृदय और बुद्धि को समान रूप से तृप्ति तथा बोध दे सके।

मानव कंठ को परिवेश विशेष मे जीवनाभिव्यक्ति के लिए जो ध्वनियां दायभाग मे प्राप्त हुई थी, उन्हें उसने अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा से सर्वथा नवीन रूपों मे अवतरित किया। उसने अपनी जीवनाभिव्यक्ति ही नही, उसके विस्तृत विविध परिवेश को भी ऐसे शब्द-संकेतों मे परिवर्तित कर लिया, जो विशेष ध्वनि मात्र से किसी वस्तु को ही नही, अशरीरी भाव और बोध को भी रूपायित कर सके और तब उस वाणी के द्वारा उसने अपने रागात्मक संस्कार तथा बौद्धिक उपलब्धियों को इस प्रकार संग्रथित किया कि वे प्रकृति तथा जीवन के क्षण-क्षण परिवर्तित रूपों को मानव चेतना मे अक्षर निरंतरता देने की रहस्यमयी क्षमता पा सके।

मनुष्य की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति मे सबसे अधिक समर्थ और अक्षर भाषा ही होनी है। वही मानव के आतरिक तथा बाह्य जीवन के परिष्कार का आधार है, क्योंकि बौद्धिक क्रिया तथा मनोरोगों की अभिव्यक्ति तथा उनके परस्पर संबंधों को संग्रथित करने मे भाषा एक स्निग्ध किंतु अटूट सूत्र का कार्य

करती है। भाषा में स्वर, अर्थ, रूप, भाव तथा बोध का ऐसा समन्वय रहता है, जो मानवीय अभिव्यक्ति को व्यष्टि से समष्टि तक विस्तार देने में समर्थ है।

मानव व्यक्तित्व के समान ही उसकी वाणी का निर्माण दोहरा होता है। जैसे मनुष्य का व्यक्तित्व बाह्य परिवेश के साथ उसके अतर्जगत के घात-प्रतिघात, अनुकूलता-प्रतिकूलता, समन्वय आदि विविध परिस्थितियों द्वारा निर्मित होता चलता है, उसी प्रकार उसकी भाषा असख्य जटिल-सरल, अतर-बाह्य प्रभावों में गल-ढलकर परिणति पाती है। कालातर में हमारा समग्र अतर्जगत, हमारी सपूर्ण बौद्धिक तथा रागात्मक सत्ता शब्द-सकेतों से इस प्रकार सग्रथित हो जाती है कि एक शब्द-सकेत अनेक अप्रस्तुत मनोराग जगा देने की शक्ति पा जाता है।

भाषा सीखना तथा भाषा जीना एक-दूसरे से भिन्न हैं तो आश्चर्य की बात नहीं। प्रत्येक भाषा अपने ज्ञान और भाव की समृद्धि के कारण ग्रहण करने योग्य है, परन्तु अपनी समग्र बौद्धिक तथा रागात्मक सत्ता के साथ जीना अपनी सास्कृतिक भाषा के सदर्भ में ही सत्य है। कारण स्पष्ट है। ध्वनि का ज्ञान आत्मानुभव से तथा अर्थ का बुद्धि में प्राप्त होता है। शैशव में शब्द हमारे लिए ध्वनि-सकेत मात्र होते हैं। यदि हम ध्वनि पहचानने से पहले उसके अर्थ से परिचित हो जावें तो हम सभवत बोलना न सीख सकें।

अत यह कहना सत्य है कि वाणी आत्मानुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति है, जो समष्टि-भाव से अपने विस्तार के लिए भाषा का रूप धारण करती है। इसी से पाणिनि ने कहा है

'आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनोयुक्त विवक्षया।' (आत्मा बुद्धि के द्वारा सब अर्थों का आकलन करके मन में बोलने की इच्छा उत्पन्न करती है।)

मानव व्यक्तित्व जैसे प्राकृतिक परिवेश से प्रभावित होता है, उसी प्रकार उसकी भाषा भी अपनी धरती से प्रभाव ग्रहण करती है और यह प्रभाव भिन्नता का कारण हो जाता है। परन्तु भाषा सबधी बाह्य भिन्नताए पर्वत की ऊची-नीची अनमिल श्रेणिया न होकर एक ही सागर-तल पर बनने वाली लहरों से समानता रखती हैं। उनकी भिन्नता समष्टि की गति की निरतरता बनाये रखने का लक्ष्य रखती है। उसे खडित करने का नहीं।

प्रत्येक भाषा ऐसी त्रिवेणी है, जिसकी एक धारा व्यावहारिक जीवन के आदान प्रदान सहज करती है, दूसरी मानव के बुद्धि और हृदय की समृद्धि को अन्य मानवों के बुद्धि तथा हृदय के लिए सप्रेषणशील बनाती है और तीसरी अत सलिला के समान किसी भेदातीत स्थिति की सयोजिका है।

हमारे विशाल देश की रूपात्मक विविधता उसकी सास्कृतिक एकता के

पूरक रही है, उसकी विरोधिनी नही। इसी से विशेष जीवन-पद्धति, चिंतन, रागात्मक दृष्टि, सौदर्यबोध आदि के सबध मे तत्त्वगत एकता ने देश के व्यक्तित्व को इतने विघटनधर्मा विवर्तनो मे भी सश्लिष्ट रखा है।

धरती का कोई खंड नदी, पर्वत, समतल आदि का संघात कहा जा सकता है। मनुष्यो की आकस्मिक रूप से एकत्र भीड मानव-समूह की संज्ञा पा सकती है। परंतु राष्ट्र की गरिमा पाने के लिए भूमि-खड विशेष की ही नही, एक सांस्कृतिक दायभाग के अधिकारी और प्रबुद्ध मानव समाज की भी आवश्यकता होती है, जो अपने अनुराग की दीप्ति से उस भूमि-खड के हर कण को इस प्रकार उद्भासित कर दे कि वह एक चिर नवीन सौंदर्य में जीवित और लय-वान हो सके।

कहने की आवश्यकता नही कि हिमकिरीटिनी भारत-भूमि ऐसी ही राष्ट्र-प्रतिमा है। ऐसे महादेश मे अनेक भाषाओ की स्थिति स्वाभाविक है, किंतु उनमे से प्रत्येक भाषा एक वीणा के ऐसे सधे तार के समान रहकर ही सार्थकता पाती है, जो रागिनी की संपूर्णता के लिए ही अपनी झकार मे अन्य तारों से भिन्न है।

सभी भारतीय भाषाओ ने अपनी चिंतना तथा भावना की उपलब्धियों से राष्ट्र-जीवन को समृद्ध किया है। उनकी देशगत भिन्नता, उनकी तत्त्वगत एकता से प्राणवती होने के कारण महार्घ है।

ज्वाला धरती की गहराई मे कोयले को हीरा बनाने की क्रिया मे सलग्न रहती है और सीप जल की अतल गहनता मे स्वाति की बूद से मोती बनाने की साधना करती है। न हीरक धरती की ज्वाला को साथ लाता है, न मुक्ता जल की गहराई को, परन्तु वे समान रूप से मूल्यवान रहेगे।

हम जिस संक्राति के युग का अतिक्रमण कर रहे हैं, उसमे मानव जीवन की त्रासदी का कारण संवेदनशीलता का आधिक्य न होकर उसका अभाव है।

हमारी राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ हमारी मानसिक परतत्रता का ऐसा ग्रथि-बधन हुआ है, जिसे न हम खोल पाते हैं, न काट पाते हैं। परिणामतः हमारे विकास के मार्ग को हमारी छाया ही अवरुद्ध कर रही है।

अतीत मे हमारे देश ने अनेक अंधकार के आयाम पार किये हैं, परतु इसके चिंतको, साधको तथा साहित्य स्रष्टाओ की दृष्टि के आलोक ने ही पथ की सीमाओ को उज्ज्वल रखकर उसे अधकार मे खोने से बचाया है।

भाषा ही इस आलोक के लिए संचारिणी दीपशिखा रही है। पावका नः सरस्वती △

जीने की कला

प्रत्येक कार्य के प्रतिपादन तथा प्रत्येक वस्तु के निर्माण में दो आवश्यक अंग हैं—तद्विषयक विज्ञान और उस विज्ञान का क्रियात्मक प्रयोग। बिना एक के दूसरा अंग अपूर्ण ही रहेगा, क्योंकि बिना प्रयोग के ज्ञान प्रमाणहीन है और बिना ज्ञान के प्रयोग आधारहीन—अतः प्रत्येक विज्ञान में क्रियात्मक कला का कुछ अंश अवश्य रहता है और प्रत्येक क्रियात्मक कला भी अपने विज्ञान-विशेष की अनुगामिनी बनकर ही सफल होती है। ये दोनों इतने सापेक्ष हैं कि एक को जानने में दूसरे को जानना ही पड़ता है।

यदि हम रंग और उनके मिश्रण के विषय में जान लें, तूलिका आदि के विषय में सब कुछ समझ लें, परन्तु कभी इस ज्ञान को प्रयोग की कसौटी पर न कसें तो हमारा चित्रकला विषयक ज्ञान परीक्षण के बिना अपूर्ण ही रह जायेगा। इसी प्रकार यदि हम इस ज्ञान के बिना ही एकाएक रंग भरने का प्रयत्न करने लगें तो हमारा यह प्रयास भी असफल ही कहा जायेगा। चित्रकला की पूर्णता के लिए और सफल चित्रकार बनने के लिए हमें तत्सम्बन्धी ज्ञातव्य को जानकर प्रयोग में लाना ही होगा। यही अन्य कलाओं के लिए भी सत्य सिद्ध होगा।

यदि हम ध्यान से देखें तो संसार में जीना भी एक ऐसी कला जान पड़ेगा जिसमें उपर्युक्त दोनों साधनों का होना अनिवार्य है। सामूहिक तथा व्यक्तिगत विकास के लिए कुछ सिद्धान्तों का ज्ञान जितना आवश्यक है, उतना ही या उससे भी कुछ अधिक आवश्यक उन सिद्धान्तों का उचित अवसर पर उपयुक्त प्रयोग भी समझा जाना चाहिए। यदि हम ऐसे सिद्धान्तों का भार जन्म-भर ढोते रहें जिनका उपयुक्त प्रयोग हमें ज्ञात न हो, तो हमारी दशा उस पशु से भिन्न न होगी जिसको बिना ज्ञान ही स्वर्ण और चंदन का भार वहन करना पड़ता हो। इस प्रकार यदि हम बिना सिद्धान्त समझे उनका अनुपयुक्त प्रयोग करते रहें, तो हमारी क्रिया बिना अर्थ समझे रटाये गये शुक की वाणी के समान निरर्थक हो उठेगी।

हमारे संस्कारों में, जीवन के लिए आवश्यक सिद्धांत ऐसे सूत्र रूप में सम जाते हैं, जो प्रयोग रूपी टीका के बिना न स्पष्ट हो पाते हैं और न उपयोगी। 'सत्यं ब्रूयात्' को हम सिद्धांत रूप मे जानकर भी न अपना विकास कर सकते हैं और न समाज का उपकार, जब तक अनेक परिस्थितियो, विभिन्न स्थानों और विशेष कालों मे उसका प्रयोग कर उसके वास्तविक अर्थ को न समझ लें—उनके यथार्थ रूप को हृदयगम न कर लें।

एक निर्दोष के प्राण बचाने वाला असत्य उसकी अहिंसा का कारण बनने वाले सत्य से श्रेष्ठ ही रहेगा, एक क्रूर स्वामी की अन्यायपूर्ण आज्ञा को पालन करने वाले सेवक से उसका विरोध करने वाला अधिक स्वामिभक्त कहलाएगा और एक दुर्बल पर अन्याय करने वाले अत्याचारी को क्षमा कर देने वाले क्रोधजित से उसे दड देने वाला क्रोधी ससार का अधिक उपकार कर सकेगा। अन्य सिद्धांतो के लिए भी यही सत्य है और रहेगा।

सिद्धांतो की जितनी भारी गठरी लेकर हम अपने कर्मक्षेत्र के द्वार तक पहुंचते हैं, उतना भारी बोझ लेकर कदाचित् ही किसी अन्य देश के व्यक्ति को पहुचना पडता हो, परतु फिर भी कार्यक्षेत्र मे हमी सबसे अधिक निष्क्रिय प्रमाणित होंगे। कारण, हम अपने सिद्धांतो को उपयोग से बचा-बचाकर उसी प्रकार रखने मे उद्देश्य की सिद्धि समझ लेते है, जिस प्रकार धन को व्यय से बचाकर रखने वाले कृपण उसके सचय मे ही अपने उद्योग की चरम सफलता देख लेते है।

परिस्थिति, काल और स्थान के अनुसार उनके प्रयोग तथा रूपो के विषय मे जानने का न हमे अवकाश है न इच्छा। फल यह हुआ कि हमारा जीवन अपूर्ण वस्तुओ मे सबसे अधिक अपूर्ण होने का दुर्भाग्य मात्र प्राप्त कर सका।

आज तो जीने की कला न जानने का अभिशाप देश-व्यापक है, परतु विशेष रूप से स्त्रियों ने इस अभिशाप के कारण जो कुछ सहा है उसे सहकर जीवित रहने का अभिमान करने वाले विरले ही मिलेंगे। यह सत्य है कि हमारे देश मे व्यक्ति को इतना महत्त्व दिया गया था कि कही-कही हमे उसके विकास के साधन भी एक विचित्र बधन जैसे लगने लगते हैं। परतु यह कहना अन्याय होगा कि उन प्राचीन युग के निवासियो ने व्यक्तिगत विकास को दृष्टिबिंदु बनाकर सामूहिक या सामाजिक विकास को एक क्षण के लिए भी दृष्टि से ओझल होने दिया। उनका जीवन-विषयक ज्ञान कितना वैयक्तिक किंतु व्यापक, स्थिर किंतु प्रत्येक परिस्थिति के अनुकूल और एक किंतु सामूहिक था, इसका प्रमाण हमे उन सिद्धांतो मे मिल जाता है जिनके आकर्षण से हम अपनी अज्ञानावस्था मे भी नही छूट पाते और इस ज्ञान का उन्होने कैसा उपयुक्त तथा प्रगतिशील प्रयोग किया, यह समाज के निर्माण और व्यक्ति के जीवन के पूर्ण विकास को दृष्टि में रखकर

खोजे गए साधनों से स्पष्ट हो जाता है। यदि हम शताब्दियों से केवल सिद्धांतों का निर्जीव भार लिए हुए शिथिल हो रहे हैं तो इसमें हमारा और हमारी परिस्थितियों का दोष है। यदि हम अपने जीवन को सजीव और सक्रिय बनाना चाहते, अपनी विशेष परिस्थितियों में उनका प्रयोग कर उनकी सामयिक अनुकूलता-प्रतिकूलता, उपयुक्तता, अनुपयुक्तता का निश्चय कर लेते और जीवन के ज्ञान और उसके क्रियात्मक प्रवाह को साथ बहने देते तो अवश्य ही हमारा जीवन उत्कृष्ट कला का निदर्शन होता।

हमने जीवन को उचित कार्य से विरत कर उसी के व्यवस्थापक नियमों को अपने पैर की बेड़ियाँ बनाकर उन्हें भी भारी बना डाला, अतः आज यदि लक्ष्य तक पहुँचने की इच्छा भी भूल गये तो आश्चर्य ही क्यों होना चाहिए।

इस समय भारतीय नारी के पास ऐसा कौन-सा विशिष्ट गुण नहीं है, जिसे पाकर किसी भी देश की मानवी देवी न बन सकती हो। उसमें उस महनशक्ति की सीमा समाप्त है जिसके द्वारा मनुष्य घोर से घोरतर अग्निपरीक्षा हँसते-हँसते पार कर सकता है और अपने लक्ष्य के मार्ग में बाधाओं पर बाधाएँ देखकर नहीं सिहरता, उसमें वह त्याग है जो मनुष्य की क्षुद्र-से-क्षुद्र स्वार्थवृत्ति को क्षण में नष्ट कर डालता है और उसे अन्य के कल्याणार्थ अपनी आहुति के लिए प्रस्तुत कर देता है, उसमें मनुष्य को देवता की पंक्ति में बैठा देने वाली वह पवित्रता है, जो मरना नहीं जानती तथा उसमें हमारी संस्कृति का वह कोष है जिसकी किसी अन्य के द्वारा रक्षा संभव ही नहीं थी। वह आज भी त्यागमयी माता, पतिव्रता पत्नी, स्नेहमयी बहिन और आज्ञाकारिणी पुत्री है, जब संसार के जागृत देशों की स्त्रियाँ भौतिक सुखभोग पर अपनी युगजीर्ण संस्कृति न्योछावर किये दे रही हैं। इन्हें त्याग के, बलिदान के और स्नेह के नाम पर सब कुछ आता है, परन्तु कौन सी वह कला नहीं आती जो इन अलौकिक गुणों को सजीव कर देती।

जीर्ण-से-जीर्ण कुटीर में बसने वालों में भी कदाचित् ही कोई ऐसा अभागा निर्धन होगा, जिसके उजड़े आँगन में एक भी सहनशीला, त्यागमयी, ममतामयी स्त्री न हो।

स्त्री जिस प्रकार अपने हृदय को चूर-चूर कर पत्थर की देव-प्रतिमा बन सकती है, यह देखना हो तो किसी गृहस्थ की दुधमुँही बालिका से शापमयी युवती में परिवर्तित होती हुई विधवा को देखना चाहिए जो किसी अज्ञात दर्शन के लिए अपने हृदय की, हृदय के स्पन्दन ही जिस इच्छा कुचल-कुचलकर निर्मूल कर देती है, सतीत्व और संयम के नाम पर अपने शरीर और मन को असह्य यन्त्रणाओं के गड्ढे का आहार बना देती है और इस पर भी दूसरों के अपमान के बदले आँसू में दो बूँद जल भी इच्छानुसार नहीं पाती है स्त्री।

अर्धांगिनी की विडंबना का भार लिए, सीता सावित्री के अलौकिक तथा पवित्र आदर्श का भार, अपने भेदे हुए जीर्ण-शीर्ण स्त्रीत्व पर किसी प्रकार संभालकर क्रीतदासी के समान अपने मद्यप, दुराचारी तथा पशु से भी निकृष्ट स्वामी की परिचर्या में लगी हुई और उसके दुर्व्यवहार को सहकर भी देवताओं से जन्म-जन्मांतर में उसी का संग पाने का वरदान मांगने वाली पत्नी को देखकर कौन आश्चर्याभिभूत न हो उठेगा ? पिता के इंगित मात्र से अपने जीवन-प्रभात में देखे रंगीन स्वप्नों को विस्मृति से ढंककर बिना एक दीर्घ निःश्वास लिए अयोग्य-से-अयोग्य पुरुष का अनुगमन करने को प्रस्तुत पुत्री को देखकर किसका हृदय न भर आवेगा ? पिता की अट्टालिका और वैभव से वंचित दरिद्र भगिनी को ऐश्वर्य का उपभोग करने वाले भाई की कलाई पर सरल भाव से रक्षाबंधन बांधते देख कौन विश्वास कर सकेगा कि ईर्ष्या भी मनुष्य का स्वाभाविक विकार है और अनेक साहसहीन निर्जीव-से पुत्रों द्वारा उपेक्षा और अनादर से आहत हृदय ले, उनके सुख के प्रयत्न में लगी हुई माता को देख कौन 'क्वचित् कुमाता न भवति' कहने वाले को स्त्री-स्वभाव के गंभीर रहस्य का अन्वेषक न मान लेगा ? परंतु इतनी अधिक सहनशक्ति, ऐसा अप्रतिम त्याग और ऐसा अलौकिक साहस देखकर भी देखने वाले के हृदय में यह प्रश्न उठे बिना नहीं रहता कि क्या ये विभूतियां जीवित हैं ? यदि सजीवता न हो, विवेक के चिह्न न हों, तो इन गुणों का मूल्य ही क्या है ? क्या हमारे कोल्हू में जुता बैल कम सहनशील है ? कम यंत्रणाएं भोगता है ? शव हमारे द्वारा किये गये किसी अपमान का प्रतिकार नहीं कर सकता, सब प्रकार के आघात बिना हिले-डुले शांति से सह सकता है, हम चाहे उसे अतल जल में बहाकर मगरमच्छ के उदर में पहुंचा दें, चाहे चिता पर लिटाकर राख करके हवा में उड़ा दें, परंतु उसके मुख से न निःश्वास निकलेगी, न आह, न निरंतर खुली पथराई आंखों में जल आवेगा; न अंग कंपित होंगे ! परंतु क्या हम उसकी निष्क्रियता की प्रशंसा कर सकेंगे ?

आज हिंदू स्त्री भी शव के समान ही निस्पंद है। संस्कारों ने उसे पक्षाघात के रोगी के समान जड़ कर दिया है, अतः अपने सुख-दुःख को चेष्टा द्वारा प्रकट करने में भी वह असमर्थ है।

इसके अतिरिक्त ऐसी सीमातीत सहिष्णुता की प्रशंसा सुनते-सुनते वह अब इसे अपने मर्म का आवश्यक अंग समझने लगी है।

जीवन को पूर्ण-से-पूर्ण रूप तक विकसित कर देने योग्य सिद्धांत उसके पास हैं, परंतु न उनका परिस्थिति-विशेष में उचित उपयोग ही वह जानती है और न उनका अर्थ ही समझती है, अतः जीवन और सिद्धांत दोनों ही भार होकर उसे वैसे ही संज्ञाहीन किये दे रहे हैं, जैसे ग्रीष्म की कड़ी धूप में शीतकाल के

भारी और गर्म वस्त्र पहने हुए पथिक को उसका परिधान। जीवन को अपने साचे मे ढालकर सुदर और सुडौल बनाने वाले सिद्धातो ने ही अपने विपरीत उपयोग से भार बनकर उसके सुकुमार जीवन को उसी प्रकार कुरूप और वामन बना डाला है जिस प्रकार हाथ का सुदर ककण चरण मे पहना जाने पर उसकी वृद्धि को रोककर उसे कुरूप बना देता है।

हिंदू समाज ने उसे अपनी प्राचीन गौरव-गाथा का प्रदर्शन मात्र बनाकर रख छोडा है। और वह भी मूक निरीह भाव से उसको वहन करती जा रही है। शताब्दियो पर शताब्दिया बीती चली जा रही हैं, समय की लहरो मे परिवर्तन पर परिवर्तन बहते आ रहे हैं, परिस्थितिया बदल रही हैं, परतु समाज केवल स्त्री को, जिसे उसने दासता के अतिरिक्त और कुछ देना नही सीखा, प्रलय की उथल-पुथल मे भी शिला के समान स्थिर देखना चाहता है। ऐसी स्थिरता मृत्यु का शृगार हो सकती है, जीवन का नही। अवश्य ही मृत्यु मे भी एक सौंदर्य है, परतु वह जीवन के रिक्त स्थान को तो नही भर सकता।

धन की प्रभुता या पूजीवाद जितना गर्हित है उतना ही गर्हित रूप धर्म और अधिकार का हो सकता है, फिर उसके विषय मे तो कहना ही व्यर्थ है जिसे धन, धर्म और अधिकार तीनो प्रकार की प्रभुता प्राप्त हो चुकी है।

समाज मे उपार्जन का उत्तरदायित्व मिल जाने से पुरुष का एक प्रकार का पूजीपतित्व तो प्राप्त हो ही गया था, शक्ति अधिक होने के कारण अधिकार मिलना भी सहज-प्राप्य हो गया। इसके अतिरिक्त शास्त्र तथा अन्य सामाजिक नियमों का निर्माता होने के कारण वह अपने-आपको अधिक-से-अधिक स्वच्छद और स्त्री को कठिन-से-कठिन बधन मे रखने मे समर्थ हो सका।

धीरे-धीरे बनते-बनते स्त्री को बाध रखने का सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक उपकरणो से बना हुआ यत्र इतना पूर्ण और इतना सफलता-युक्त सक्रिय हो उठा कि उसमे ढलकर स्त्री केवल सफल दासी के रूप मे ही निकलने लगी। न उसकी मानसिक दासता मे कोई अभाव या न्यूनता थी और न शारीरिक दासता मे—विद्रोह तो क्या अपनी स्थिति के विषय मे प्रश्न करना भी उसके लिए जीवन में यत्रणा और मृत्यु के उपरात नरक मिलने का साधन था। आज यत्रों के युग म भी दासत्व के इस पुराने परतु दृढ यत्र के निर्माण-कौशल पर हमे विस्मित होना पडता है, क्योकि इसमे मूक यत्रणा सहने वाला व्यक्ति ही सहायता देने वाले के कार्य मे बाधा डालता रहता है। मनुष्य को न नष्ट कर उसकी मनुष्यता को इस प्रकार नष्ट कर देना कि वह उस हानि को जीवन का सबसे उज्ज्वल, सबसे बहुमूल्य और सबसे आवश्यक लाभ समझने लगे, असभव नही तो कठिनतम प्रयास साध्य अवश्य है। प्रत्येक बालिका उत्पन्न होने के साथ ही अपने-आपको ऐसे पराये घर की वस्तु मानने और बनने लगती है जिसमे न

जाने की इच्छा करना भी उसके लिए पाप है। विवाह के व्यवसाय में उसकी विद्या पासंग बने हुए ढेले के समान है, जो तुला को दोनों ओर समान रूप से गुरु कर देता है, कुछ उसके मानसिक विकास के लिए नहीं। उसकी योग्यता, उसकी कला पति के प्रदर्शन तथा गर्व की वस्तु है, उसे सत्य शिवं सुंदरम् तक पहुंचने का साधन नहीं; उसके कोमलता, करुणा, आज्ञाकारिता, पवित्रता आदि गुण उसे पुरुष की इच्छानुकूल बनाने के लिए आवश्यक हैं, संसार पर कल्याण-वर्षा के लिए नहीं। न स्त्री को अपने जीवन का कोई लक्ष्य बनाने का अधिकार है और न समाज द्वारा निर्धारित विधान के विरुद्ध कुछ कहने का। उसका जीवन पुरुष के मनोरंजन तथा उसकी वंशवृद्धि के लिए इस प्रकार चिरनिवेदित हो चुका है कि उसकी सम्मति पूछने की आवश्यकता का अनुभव भी किसी ने नहीं किया। वातावरण भी धीरे-धीरे उसे ऐसे ही मूक आज्ञा-पालन के लिए प्रस्तुत करता रहता है। गृहिणी का कर्तव्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं यदि वह साधिकार और स्वेच्छा से स्वीकृत हो। जिस गृह को बचपन से उसका लक्ष्य बनाया जाता है यदि उस पर उसे अन्न-वस्त्र पाने के अतिरिक्त कोई और अधिकार भी होता, जिस पुरुष के लिए उसका जीवन एकांत रूप से निवेदित है यदि उसके जीवन पर उसका भी कोई स्वत्व होता, तो यह दासता स्पृहणीय प्रभुता बन जाती। परंतु जिस गृह के द्वार पर भी वह बिना गृहपति की आज्ञा के पैर नहीं रख सकती, जिस पुरुष के घोर-से-घोर अन्याय, नीच-से-नीच आचरण के विरोध में दो शब्द कहना भी उसके लिए अपराध हो जाता है, उस गृह को बंदीगृह और पुरुष को कारारक्षक के अतिरिक्त वह और क्या समझे!

इसमें संदेह नहीं कि ऐसी परिस्थिति का कुछ उत्तरदायित्व स्त्री पर भी है, क्योंकि उसे जीने की कला नहीं आती, केवल युगयुगांतर से चले आने वाले सिद्धांतों का भार लेकर वह स्वयं ही अपने लिए भार हो उठी है।

मनुष्यता के ऊपर की स्थिति को अपना लक्ष्य बनाने से प्रायः मनुष्य देवता का पाषाण-प्रतिमा बनकर रह जाता है और इसके विपरीत मनुष्य से नीचे उतरना पशु की श्रेणी में आ जाना है। एक स्थिति मनुष्य से ऊपर होने पर भी निष्क्रिय है, दूसरी इससे नीची होने के कारण मनुष्यता का कलंक है। अतः दोनों ही स्थितियों में मनुष्य का पूर्ण विकास संभव नहीं। हमारे समाज में अपने स्वार्थ के कारण पुरुष मनुष्यता का कलंक है और स्त्री अपनी अज्ञानमय निस्पंद सहिष्णुता के कारण पाषाण-सी उपेक्षणीय—दोनों के मनुष्यत्व-युक्त मनुष्य हो जाने से ही जीवन की कला विकास पा सकेगी जिसका ध्येय मनुष्य की सहानुभूति, सक्रियता, स्नेह आदि गुणों को अधिक-से-अधिक व्यापक बना देना है।

जीवन को विकृत न बनाकर उसे सुंदर और उपयोगी रूप देने के इच्छुक

को अपने सिद्धातो से सबध रखने वाली अतर्मुखी तथा उन सिद्धातो के सक्रिय रूप से सबध रखने वाली बहिर्मुखी शक्तियो को पूर्ण विकास की सुविधाए देनी ही पडेंगी। वही वृक्ष पृथ्वीतल पर बिना अवलब के अकेला खडा रहकर झझा के प्रहारो को मलय-समीर के झोको के समान सहकर भी हरा-भरा फल-फूल से युक्त रह सकेगा, जिसकी मूल-स्थित शक्तिया विकसित और सबल हैं और उसी की मूल-स्थिति दृढ रह सकती है जो धरातल से बाहर स्वच्छद वातावरण मे सास लेता है। जब बहिर्मुखी शक्तिया भी अतर्मुखी हो जाती हैं तब बाह्य सक्रियता नष्ट हुए बिना नही रहती। आज चाहे हमारी आध्यात्मिकता भीतर-ही-भीतर पाताल तक फैल गई हो, परतु जीवन का व्यावहारिक रूप विकृत-सा होता जा रहा है। जीवन का चिह्न केवल काल्पनिक स्वर्ग मे विचरण नही है किंतु ससार के कटकाकीर्ण पथ को प्रशस्त बनाना भी है। जब तक बाह्य तथा आतरिक विकास सापेक्ष नही बनते, हम जीना नही जान सकते△△△

जाने की इच्छा करना भी उसके लिए पाप है। विवाह के व्यवसाय में उसकी विद्या पासंग बने हुए ढेले के समान है, जो तुला को दोनों ओर समान रूप से गुरु कर देता है, कुछ उसके मानसिक विकास के लिए नहीं। उसकी योग्यता, उसकी कला पति के प्रदर्शन तथा गर्व की वस्तु है, उसे सत्य शिवं सुंदरम् तक पहुँचने का साधन नहीं; उसके कोमलता, करुणा, आज्ञाकारिता, पवित्रता आदि गुण उसे पुरुष की इच्छानुकूल बनाने के लिए आवश्यक हैं, संसार पर कल्याण-वर्षा के लिए नहीं। न स्त्री को अपने जीवन का कोई लक्ष्य बनाने का अधिकार है और न समाज द्वारा निर्धारित विधान के विरुद्ध कुछ कहने का। उसका जीवन पुरुष के मनोरंजन तथा उसकी वंशवृद्धि के लिए इस प्रकार चिरनिवेदित हो चुका है कि उसकी सम्मति पूछने की आवश्यकता का अनुभव भी किसी ने नहीं किया। वातावरण भी धीरे-धीरे उसे ऐसे ही मूक आज्ञा-पालन के लिए प्रस्तुत करता रहता है। गृहिणी का कर्त्तव्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं यदि वह साधिकार और स्वेच्छा से स्वीकृत हो। जिस गृह को बचपन से उसका लक्ष्य बनाया जाता है यदि उस पर उसे अन्न-वस्त्र पाने के अतिरिक्त कोई और अधिकार भी होता, जिस पुरुष के लिए उसका जीवन एकांत रूप से निवेदित है यदि उसके जीवन पर उसका भी कोई स्वत्व होता, तो यह दासता स्पृहणीय प्रभुता बन जाती। परंतु जिस गृह के द्वार पर भी वह बिना गृहपति की आज्ञा के पैर नहीं रख सकती, जिस पुरुष के घोर-से-घोर अन्याय, नीच-से-नीच आचरण के विरोध में दो शब्द कहना भी उसके लिए अपराध हो जाता है, उस गृह को बंदीगृह और पुरुष को कारारक्षक के अतिरिक्त वह और क्या समझे!

इसमें संदेह नहीं कि ऐसी परिस्थिति का कुछ उत्तरदायित्व स्त्री पर भी है, क्योंकि उसे जीने की कला नहीं आती, केवल युगयुगांतर से चले आने वाले सिद्धांतों का भार लेकर वह स्वयं ही अपने लिए भार हो उठी है।

मनुष्यता के ऊपर की स्थिति को अपना लक्ष्य बनाने से प्रायः मनुष्य देवता का पाषाण-प्रतिमा बनकर रह जाता है और इसके विपरीत मनुष्य से नीचे उतरना पशु की श्रेणी में आ जाना है। एक स्थिति मनुष्य से ऊपर होने पर भी निष्क्रिय है, दूसरी इससे नीची होने के कारण मनुष्यता का कलंक है। अतः दोनों ही स्थितियों में मनुष्य का पूर्ण विकास संभव नहीं। हमारे समाज में अपने स्वार्थ के कारण पुरुष मनुष्यता का कलंक है और स्त्री अपनी अज्ञानमय निस्पंद सहिष्णुता के कारण पाषाण-सी उपेक्षणीय—दोनों के मनुष्यत्व-युक्त मनुष्य हो जाने से ही जीवन की कला विकास पा सकेगी जिसका ध्येय मनुष्य की सहानुभूति, सक्रियता, स्नेह आदि गुणों को अधिक-से-अधिक व्यापक बना देना है।

जीवन को विकृत न बनाकर उसे सुंदर और उपयोगी रूप देने के इच्छुक

को अपने सिद्धातो से सबध रखने वाली अतर्मुखी तथा उन सिद्धातों के सक्रिय रूप मे सबध रखने वाली बहिर्मुखी शक्तियों को पूर्ण विकास की सुविधाए देनी ही पड़ेंगी। वही वृक्ष पृथ्वीतल पर बिना अवलब के अकेला खड़ा रहकर झझा के प्रहारों को मलय-समीर के झोकों के समान सहकर भी हरा-भरा फल-फूल मे युक्त रह सकेगा, जिसकी मूल-स्थित शक्तिया विकसित और सबल हैं और उसी की मूल स्थिति दृढ रह सकती है जो धरातल से बाहर स्वच्छद वातावरण में सास लेता है। जब बहिर्मुखी शक्तियां भी अतर्मुखी हो जाती हैं तब बाह्य सक्रियता नष्ट हुए बिना नही रहती। आज चाहे हमारी आध्यात्मिकता भीतर-ही भीतर पाताल तक फैल गई हो, परतु जीवन का व्यावहारिक रूप विकृत-सा होता जा रहा है। जीवन का चिह्न केवल काल्पनिक स्वर्ग मे विचरण नहीं है किंतु ससार के कटकाकीर्ण पथ को प्रशस्त बनाना भी है। जब तक बाह्य तथा आतरिक विकास सापेक्ष नही बनते, हम जीना नहीं जान सकते△△△